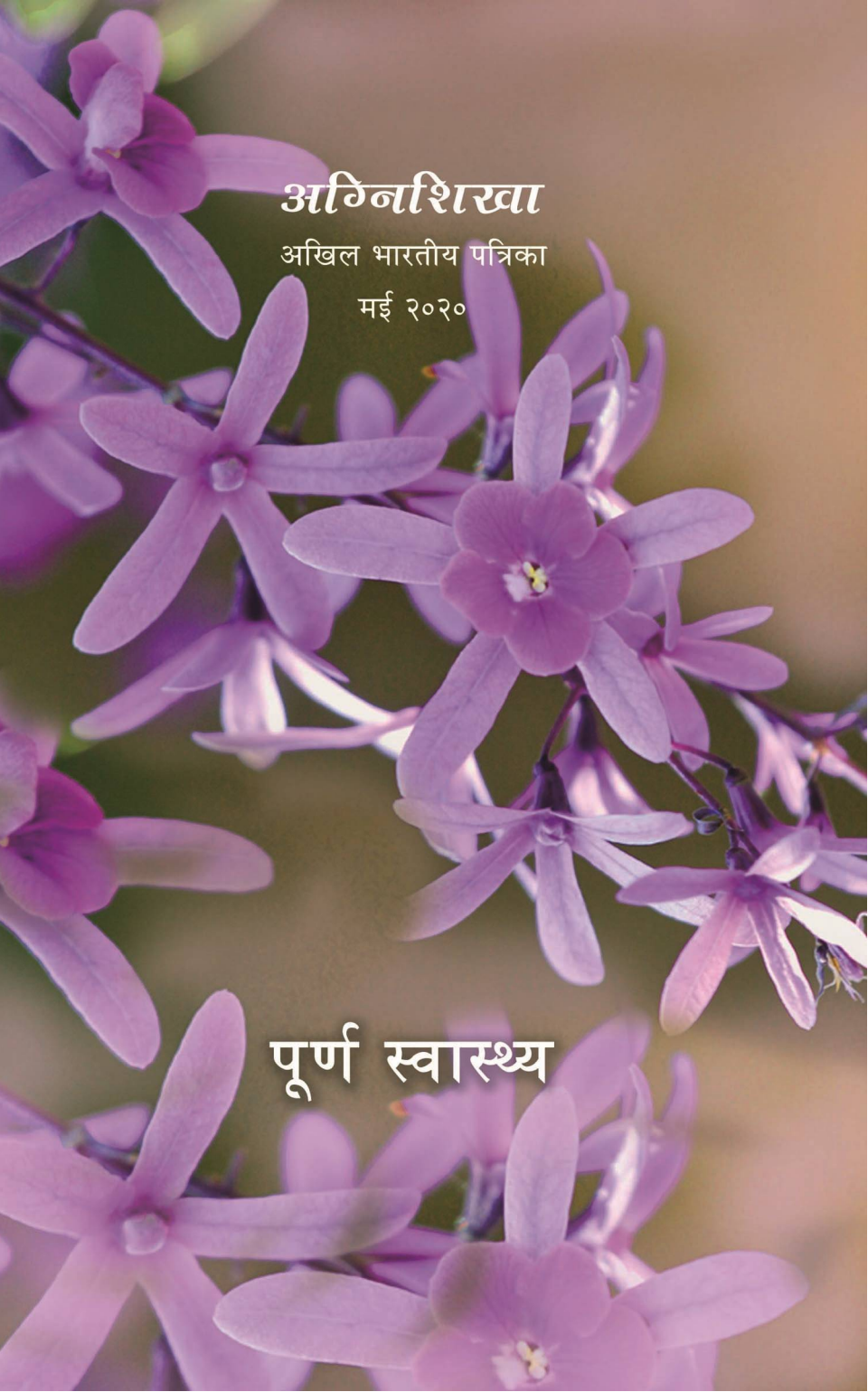

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

मई २०२०

पूर्ण स्वास्थ्य

अग्निशिखा मई २०२० वर्ष ५०, अंक १०, पूर्णांक ५९७

विषय-सूची

प्रार्थना		३
रोगाणुओं का गुह्य क्षेत्र		६
बीमारी के कारण		१२
स्वास्थ्य को पुनः प्राप्त करना		२१
श्रीअरविन्द के वचन		३९

'पुरोधा'

दैनन्दिनी		४४
एक शिष्या के नाम पत्र	'श्रीमातृवाणी' से	४७
सच्चे बनो	'श्रीमातृवाणी' से	४९
"दिव्य शरीर में दिव्य जीवन' : ध्यान के तीन क़दम	नवजातजी	५३
राजन्, ये तो और भी भारी हो गयीं!	वन्दना	५७

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—१८०रु.; तीन वर्ष—५२०रु.; पाँच वर्ष—८६०रु.

संस्थापक : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू, पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

प्रार्थना

२१ अगस्त १९१४

प्रभो, हे प्रभो, सारी धरती पर उथल-पुथल है; वह कराहती और दुःख पाती है, वह सन्ताप में है... यह समस्त दुःख जो उस पर उतर आया है व्यर्थ नहीं होना चाहिये; वर दे कि यह सारा रक्तपात सौन्दर्य, प्रकाश और प्रेम के बीजों का अधिक तेज़ अंकुरण हो, ये खिल कर सारी पृथ्वी को अपनी भरपूर फसल से ढक दें। अन्धकार के इस रसातल की गहराइयों से पृथ्वी की समस्त सत्ता तुझे पुकारती है कि तू उसे वायु और प्रकाश दे; उसका दम घुट रहा है, क्या तू उसकी सहायता के लिए न आयेगा?

हे प्रभो, विजय पाने के लिए हमें क्या करना चाहिये?

हमारी सुन, क्योंकि हमें किसी भी क़ीमत पर विजय पानी चाहिये। हर प्रतिरोध को तोड़ दे :

आविर्भूत हो!

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १, पृ. १३२

जब भौतिक परिस्थितियाँ ज़रा कठिन हो जायें और उनके साथ-साथ बेचैनी आये, तो अगर हम 'तेरी' इच्छा के प्रति पूरी तरह समर्पण करना जानें, मृत्यु और जीवन की, स्वास्थ्य और रोग की ज़रा भी परवाह किये बिना सम्पूर्ण सत्ता तुरन्त तेरे प्रेम और जीवन के विधान के साथ सामञ्जस्य में आ सके तो समस्त भौतिक रोग-शोक समाप्त हो जाते हैं और अपना स्थान गहरे और शान्तिमय अचञ्चल स्वास्थ्य को दे देते हैं।...

परन्तु हे प्रभो, तेरे साथ युक्त होना, तेरे ऊपर विश्वास करना, तेरे अन्दर निवास करना, स्वयं तू बन जाना ही परम विज्ञान है; तब ऐसे मनुष्य के लिए कोई चीज़ असम्भव नहीं रहती जो तेरी सर्वशक्तिमत्ता को अभिव्यक्त करता है।

प्रभो, मेरी अभीप्सा एक मूक स्तवन की तरह, एक मौन आराधना की तरह तेरी ओर उठती है और तेरा दिव्य प्रेम मेरे हृदय को आलोकित करता है।

हे दिव्य स्वामी, मैं तुझे नमन करती हूँ!

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १, पृ. ६२-६३

उत्कृष्ट उदारता

क्योंकि एक शक्ति है जो हमेशा सबको बाँटी जा सकती है बशर्ते कि वह एकदम निर्वैयक्तिक रूप में बाँटी जाये। यह है प्रेम, प्रेम जिसमें प्रकाश और जीवन समाये हुए हैं, अर्थात्, जिसमें समझदारी, स्वास्थ्य और खिलने की सभी सम्भावनाएँ हैं।

हाँ, एक उत्कृष्ट उदारता है जो प्रसन्न हृदय और प्रशान्त आत्मा से उठती है।

जिसने आन्तरिक शान्ति पा ली है वह जहाँ कहीं भी जाये, मोक्ष का अग्रदूत, आशा और आनन्द का वाहक होता है। क्या यही वह चीज़ नहीं है जिसकी बेचारी कष्ट में पड़ी हुई मानवजाति को सबसे अधिक आवश्यकता है?

हाँ, कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनके विचार प्रेममय होते हैं, जो प्रेम को विकीरित करते, फैलाते हैं। ऐसे लोगों की उपस्थिति-मात्र ही सबसे अधिक सक्रिय और वास्तविक उदारता है।

यद्यपि वे कोई शब्द नहीं बोलते, कोई इशारा नहीं करते, लेकिन फिर भी बीमार अच्छे हो जाते हैं, पीड़ितों को शान्ति मिलती है, अज्ञानियों को बोध मिलता है, दुष्टों को शान्त कर दिया जाता है, कष्ट सहने वालों को सान्त्वना मिलती है और सभी के अन्दर एक गहरा परिवर्तन आ जाता है जो उनके लिए नये क्षितिज खोल देता है, उन्हें एक क़दम आगे बढ़ने-योग्य बनाता है और निस्सन्देह यह क़दम प्रगति के अनन्त पथ पर निर्णायक होगा।

ये लोग, जो प्रेम के कारण अपने-आपको सबको दे देते हैं, जो सबके सेवक बन जाते हैं, ये परम 'उदारता' के जीते-जागते प्रतीक हैं।

मैं आप सबको, जो यहाँ उपस्थित हैं, अपने उन भाइयों को जो उदार होने की आकांक्षा रखते हैं, यह निमन्त्रण देती हूँ कि आप अपने विचारों को मेरे विचारों के साथ मिला कर यह इच्छा करें : हम प्रतिदिन उन लोगों के उदाहरण का अधिकाधिक अनुसरण करें ताकि हम उन जैसे हो जायें, संसार में ज्योति और प्रेम के सन्देशवाहक हो जायें।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. ११९-२०

रोगाणुओं का गुह्य क्षेत्र

स्पैनिश 'फ़्लू' की महामारी के समय श्रीमाँ का अनुभव

जापान में मुझे एक अनुभव हुआ था—एक दफ़ा इंफ़्लुएंज़ा की महामारी का प्रकोप फैल गया था, वह इंफ़्लुएंज़ा जो युद्ध से आया था (१९१४ का विश्वयुद्ध), और वह मारक था। लोगों को निमोनिया हो रहा था और तीन दिनों के अन्दर-ही-अन्दर, 'प्लॉप'! ख़तम। जापान में कभी महामारियाँ नहीं हुआ करती थीं (यह ऐसा देश है जहाँ के लोग इससे परिचित नहीं हैं), तो वे एकदम सकते में आ गये; इस महामारी से कैसे जूझा जाये यह उनकी समझ के एकदम परे था; और वह स्थान उन रोगाणुओं का जन्मस्थान बन गया था—सचमुच अविश्वसनीय... हर रोज़ हज़ारों की तादाद में लोग मर रहे थे, अविश्वसनीय! हर एक आतंक में जी रहा था, मुँह पर कपड़ा बाँधे बिना निकलने का साहस किसी में नहीं था। फिर किसी ने, एक दिन अचानक मुझसे पूछा, "क्या है यह?" मैंने उसे जवाब दिया, "बेहतर है कि इसके बारे में सोचा ही न जाये।" "क्यों" उसने कहा, "यह बहुत दिलचस्प है! हमें इसका कारण ढूँढ़ना चाहिये, कम-से-कम आप तो इसका पता लगा ही सकती हैं, यह जो कुछ भी हो।" और नादान मैं! मैं तब बाहर ही निकलने वाली थी; मुझे एक लड़की से मिलना था जो टोकियो के दूसरे छोर पर रहती थी (टोकियो दुनिया का सबसे बड़ा शहर है, एक सिरे से दूसरे सिरे तक पहुँचने में बहुत समय लगता है), और मैं इतनी सम्पन्न नहीं थी कि वहाँ गाड़ी में घूमती। मैंने ट्राम ली... कैसा वातावरण था! शहर-भर में आतंक का-सा माहौल था! तब हम एक ऐसे घर में रहते थे जो एक 'पार्क' से घिरा हुआ था, एकदम अलग-थलग, लेकिन सारे शहर का वातावरण भयानक, डरावना था। और सबके मन में यही प्रश्न था, "यह विभीषिका है क्या?" स्वाभाविक है कि मैं भी उसके सम्पर्क में आ गयी—मैं उस बीमारी के साथ घर वापस लौटी! मुझे पता था कि मैं भी उसकी चपेट में आ जाऊँगी, वह होना ही था! *(हँसी)* मैं उसे लेकर घर आयी।

वह मेरे सिर पर एक धमाके की तरह उतरा—मैं एकदम सुन्न-सी हो गयी। मेरे मित्रों ने चिकित्सक बुलवाया। शहर में दवाइयाँ नहीं बची

थीं—लोगों के लिए दवाइयाँ काफ़ी नहीं थीं, लेकिन चूँकि हम लोगों को महत्त्वपूर्ण व्यक्ति समझा जाता था (!) चिकित्सक मेरे लिए दो गोलियाँ ले आये। मैंने उनसे कहा *(श्रीमाँ हँसती हैं)*, "डॉक्टर, मैं कभी कोई दवाई नहीं लेती।" "क्या!" वे बोले, "ये बड़ी मुश्किल से मिली हैं!" "ठीक यही बात है", मैंने जवाब दिया, "ये दूसरों के लिए बहुत अच्छी हैं!" उसके बाद, उसके बाद, अचानक तेज़ बुख़ार की वजह से (स्वाभाविक था कि मैं बिस्तर पर लेटी हुई थी), अचानक, बरबस मैं ध्यान में उतर गयी, सच्चे निदिध्यासन—ध्यान—में, ऐसे निदिध्यासन में जो व्यक्ति को उसके शरीर के बाहर धकेल देता है—और मैं समझ गयी। मैं समझ गयी कि "अन्त आ गया है; मैं इसका प्रतिरोध नहीं कर सकती, अन्त आ गया है।" अतः, मैंने ग़ौर से देखा, मैंने एकटक उस पर नज़र गाड़े रखी और मैंने देखा कि वह एक ऐसी सत्ता थी जिसकी बम के कारण आधी खोपड़ी उड़ गयी थी और जिसे यह भी पता नहीं था कि वह मर गयी है, इसलिए वह किसी ऐसे को ढूँढ़ रही थी जिससे चिपक कर वह उसका ख़ून पी सके। ऐसी कई सत्ताएँ वहाँ फैली हुई थीं, (मैंने अपने ऊपर एक ऐसी ही सत्ता को उसका "कार्य" करते देखा!) अनगिनत मृत सत्ताओं में से यह एक थी। हर एक का अपना एक तरह का वातावरण था—यह वातावरण चारों तरफ़ फैला हुआ था—शवों की सड़न जो एकदम महामारी बन जाती है, और इसी ने बीमारी फैलायी। अगर केवल इस सड़ान्ध की छूत व्यक्ति को लग जाती तो फिर भी वह ठीक हो जाता था, लेकिन अगर कोई अधकटे सिर या अधकटे शरीरवाली सत्ता तुम पर क़ब्ज़ा कर लेती, या जिसकी ऐसी निर्मम मृत्यु हुई हो कि उसे यह भी नहीं पता होता कि वह मर चुकी है और जो अपने जीवन को जारी रखने के लिए किसी शरीर पर लपक रही हो, (इससे ऐसा वातावरण बन गया था कि हर रोज़ हज़ारों की तादाद में मौतें हो रही थीं, वे झुण्ड की झुण्ड टूट पड़ रही थीं, ऐसा छुतहा रोग था यह) हाँ तो, ऐसी सत्ताओं के चंगुल में लोग धड़ाधड़ आकर मर रहे थे। तीन दिनों के अन्दर यह ख़तम भी हो गया... तो उस समय, जब मैंने उस सत्ता को घूरा, और मैं एकदम समझ गयी, मैंने अपनी सारी गुह्य ऊर्जा को, सारी गुह्य शक्ति को समेटा, और... (*माँ अपनी मुट्ठी ज़ोरों से कुर्सी पर मारती हैं, मानों अपने शरीर में बलपूर्वक वापस आ रही हों*) मैं

अपने शरीर में लौट आयी, मैंने अपने-आपको बिस्तर पर पाया, मैं जगी हुई थी, और वह सब ख़तम हो चुका था। यही नहीं कि वह सब ख़तम चुका था, बल्कि मैं एकदम शान्त-निस्तब्ध रही और मैंने वातावरण में काम करना शुरू कर दिया... उस क्षण से, मेरे बच्चे, कोई नया मामला सामने नहीं आया! इतना अद्‌भुत था यह कि जापानी अख़बारों में इसकी चर्चा हुई। उन्हें पता न था कि यह कैसे हुआ, लेकिन उस दिन से, उस रात से, कोई नया मामला सामने नहीं आया। और धीरे-धीरे लोग ठीक होने लगे।
एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से *२० अप्रैल १९६३*

श्रीमाँ की एक अनुभूति

... आजकल बीमारी के कारणों पर अवचेतना में एक पूरा शोध चल रहा है, और मैं बहुत सुखद चीज़ें नहीं देख रही हूँ... प्राणिक वातावरण, जो सबसे अधिक भौतिक है, उसका एक पूरा क्षेत्र है जो सूक्ष्म भौतिक में उतर आता है—और यहीं होती है बीमारियों की रचना। जानते हो, वहाँ एकदम से टेढ़ी-मेढ़ी रचनाओं का झुण्ड का झुण्ड होता है—वहाँ सच्चाई का एकदम अभाव होता है। और वह सारी चीज़ अपने-आपको कई चित्रों, कह सकते हैं कि कई बिम्बों में प्रकट करती है... यह चेतना का, आकारों-रूपों का विकार होता है इस विकृति की पूरी राशि उस क्षेत्र में घूमती रहती है और यही लोगों को अपनी जकड़ में ले लेती है।

लेकिन मेरे साथ हमेशा एक आकार रहता था, वह बहुत स्पष्ट नहीं था, लेकिन उस क्षेत्र में वह 'परम प्रभु की उपस्थिति' का भौतिक रूप था। मुझे याद है, एक बार मैं एक बड़े-से कमरे में थी, एकदम निर्जन, वहाँ कुछ नहीं था, रौशनी भी बहुत कम थी, कि अचानक मुझे महसूस हुआ कि *(गरदन पर)* किसी ने मुझ पर झपट्टा मारा हो, मैंने भौतिक रूप से भी इसका अनुभव किया (मैं बिस्तर पर लेटी हुई थी, लेकिन मैंने भौतिक रूप से इसका अनुभव किया)। तो मैंने सदा मेरे साथ रहने वाले उस 'आकार' को—जो इतना सतर्क, मेरे इतना निकट था—इसका संकेत किया और कहा कि वह मुझे इस चीज़ को स्पष्ट करे। मैंने शिकायत-भरे लहजे में उससे कहा, "देखो, किसी चीज़ ने मुझे अपने शिकंजे में जकड़ लिया है और इससे मुझे भौतिक रूप से भी तकलीफ़ हो रही है।" तब मैंने एक

तरह की बाँह देखी, जिसने वह चीज़ मेरी गरदन से निकाल दी, उसने उसे खींच कर निकाला और मुझे दिखलाया : वह उन बड़े चमगादड़ों जैसी चीज़ थी जिन्हें 'फ़्लाइंग फ़ॉक्स' कहा जाता है (यहाँ भी कुछ हैं, ये छोटे पक्षी, मुर्गी के बच्चे इत्यादि खा जाते हैं...) वह मेरी गरदन से चिपटा हुआ था! मेरे आकार ने मुझसे कहा, "ओह, यह कुछ नहीं है! यह बस चमगादड़ ही है।" *(माँ हँसती हैं)* और यह बड़ी-सी चीज़ थी, ऐसी (क़रीब तीन फ़ीट की) जिसने मुझे यहाँ गरदन पर धर दबोचा था, उसने अपने दो पंजे गड़ा दिये थे (उसने मेरी गरदन मरोड़ दी थी) जब उसे खींच कर निकाला गया तो वह चपटा हो गया था, जड़-सा बन गया था, लेकिन फिर भी वह उतना ही दूषित था।

यह एक "घटना" थी जो मेरे साथ घटी। इस तरह की न जाने कितनी हुई होंगी। लेकिन विलक्षण बात यह थी कि मेरा भौतिक दर्द एकदम से ग़ायब हो गया; मुझे गरदन पर ऐसा दर्द हो रहा था मानों उस पर वज़न रख दिया गया हो जो मेरी नसों को दबा रहा था, और वह एक पल में नदारद हो गया : "ओह, यह कुछ नहीं, बस वह था"!

फिर मेरा आकार मुझे दूसरी जगहों पर ले गया जहाँ मैंने बड़े ही विचित्र आकार का एक बिच्छू देखा (वह भी उस क्षेत्र में एक ऐसी सत्ता थी जो दूसरी बीमारियाँ फैलाती थी) वह बिच्छू कहीं चढ़ने की कोशिश कर रहा था। वहाँ एक ऐसा विकृत साँप भी था जिसे आर-पार चीर दिया गया था और उस चीरे से कोई चीज़ निकल रही थी, मानों उसका जीवन उसमें से निकल भागा जा रहा था, फिर भी वह ज़िन्दा था! सब तरह की विभीषिकाएँ थीं वहाँ। लेकिन मेरे अन्दर जुगुप्सा की ज़रा भी भावना न थी : वह मानों एक चेतना थी जो अध्ययन और निरीक्षण कर रही थी, और "मैं" की वह भावना, जो सब कुछ ध्यान से देख रही थी, चेतना से निकली वह शक्ति थी जो इस सारे खेल को मुझे दिखा रही थी।

यह सुखद क्षेत्र नहीं है। यह ऐसा क्षेत्र है जो, ठीक हमारे परे है... (कैसे बताऊँ मैं? यह न तो उच्चतर है, न गभीरतर) यह सूक्ष्म भौतिक के परे है, और यह वह क्षेत्र है जिसमें बीमारी के आकार रूप लेते हैं। मैंने अपनी रात के तीन से ज़्यादा घण्टे इसमें बिताये थे।

एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से *२५ दिसम्बर १९६३*

कीटाणुओं का मूल

अब, इस हद तक गये बिना, भौतिक वातावरण में, पृथ्वी के वातावरण में, छोटी-छोटी बहुत-सी सत्ताएँ हैं जिन्हें तुम नहीं देखते, क्योंकि तुम्हारी दृष्टि बहुत सीमित है, लेकिन वे तुम्हारे वातावरण में डोलती फिरती हैं। उनमें ऐसी भी हैं जो बहुत अच्छी हैं और ऐसी भी हैं जो बहुत दुष्ट हैं। साधारणतः ये छोटी-छोटी सत्ताएँ प्राणिक सत्ताओं के विघटन से पैदा होती हैं—ये बढ़ती जाती हैं—ये काफ़ी अप्रिय चीज़ों का ढेर लगा देती हैं।...

और फिर इन्हीं छोटी सत्ताओं का एक दल होता है, वे आपस में झगड़ सकती हैं, इनका आपस का जीवन बहुत शान्तिमय नहीं होता: ये लड़ती-झगड़ती हैं, नष्ट-भ्रष्ट करती हैं, एक दूसरे को उखाड़ फेंकती हैं और यही कीटाणुओं का मूल हैं। वे विघटन की शक्तियाँ हैं। लेकिन वे अपने खण्डित रूपों में भी जीवित रहती हैं और यही कृमियों और कीटाणुओं का मूल है। अधिकतर कीटाणुओं के पीछे दुर्भावना होती है और यही उन्हें इतना भयंकर बना देती है। और जब तक तुम इस दुर्भावना के प्रकार को और गुणों को न जान लो और उन पर क्रिया न कर सको, तब तक निन्यानबे प्रतिशत सम्भावना यही है कि तुम उसकी सच्ची और सम्पूर्ण चिकित्सा न खोज पाओगे। कीटाणु सूक्ष्म भौतिक जगत् की किसी जीवन्त चीज़ की स्थूल भौतिक अभिव्यक्ति हैं। इसीलिए, जैसा कि मैंने कहा, वही कीटाणु वर्षों तुम्हारे चारों ओर, तुम्हारे अन्दर बने रहते हैं और तुम्हें बीमार नहीं करते और फिर अचानक तुम्हें बीमार कर देते हैं। एक और कारण भी है। कीटाणुओं का मूल और आश्रय है विसंगति एवं सत्ता में विरोधी शक्तियों के प्रति ग्रहणशीलता।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. १९९-२००

जब श्रीअरविन्द कहते हैं कि बीमारी बाहर से आती है तो वस्तुतः क्या आता है?

वह एक तरह का स्पन्दन है जो किसी मानसिक सुझाव, अव्यवस्था की प्राणिक शक्ति से और कुछ उन भौतिक तत्त्वों से बनता है जो मानसिक सुझाव और प्राणिक स्पन्दन का भौतिकीकरण होते हैं। और ये सब भौतिक तत्त्व वे हो सकते हैं जिन्हें मनुष्य ने कीटाणु, जीवाणु, फ़लाना, ढिमाका तथा कई अन्य नाम दिये हैं।

उसके साथ कोई संवेदन हो सकता है, उसके साथ कोई स्वाद हो सकता है, कोई गन्ध हो सकती है, बशर्ते कि तुम्हारी सूक्ष्म इन्द्रियाँ बहुत विकसित हों। बीमारी की ऐसी रचनाएँ होती हैं जो हवा को एक विशेष स्वाद, एक विशेष गन्ध या कोई छोटा-सा विशेष स्पन्दन दे देती हैं।

व्यक्ति के अन्दर बहुत-सी सुप्त इन्द्रियाँ हैं। वे भयंकर रूप से तामसिक होती हैं। अगर उसके अन्दर की सभी इन्द्रियाँ जगी होतीं तो वह बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ देख पाता जो यूँ ही गुज़र सकती हैं और किसी को कुछ शंका भी नहीं होती।

उदाहरण के लिए, इस समय कई लोगों को एक तरह का इंफ़्लुएंज़ा हुआ है। यह बहुत फैला हुआ है। हाँ तो, जब यह निकट आता है, तो इसमें एक विशेष स्वाद होता है, एक विशेष गन्ध होती है, और यह तुम्हारी ओर एक तरह का सम्पर्क लाता है (स्वभावतः यह एक प्रहार की तरह नहीं होता), एक अधिक सूक्ष्म वस्तु, एक तरह का सम्पर्क, ठीक उसी तरह का जैसा तब होता है जब तुम किसी चीज़ पर अपना हाथ फेरते हो, किसी चीज़ पर उलटी दिशा में...

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. १६१-६२

बीमारी के कारण

बाहरी शक्तियाँ और आन्तरिक अवस्था

शारीरिक व्याधियाँ क्या हैं? क्या वे विरोधी शक्तियों के आक्रमण हैं जो बाहर से आते हैं?

इस विषय में दो बातों पर विचार करना चाहिये। एक वह चीज़ जो बाहर से आती है और दूसरी वह जो तुम्हारी आन्तरिक अवस्था से आती है। तुम्हारी आन्तरिक अवस्था रोग का कारण तब बनती है जब उसमें कोई प्रतिरोध या विद्रोह हो अथवा जब तुम्हारे अन्दर कोई ऐसा भाग हो जो भागवत संरक्षण का प्रत्युत्तर नहीं देता; अथवा उसमें कोई ऐसी चीज़ भी हो सकती है जो इच्छापूर्वक, जान-बूझकर विरोधी शक्तियों को अन्दर बुलाती है। तुम्हारे अन्दर इस प्रकार की कोई मामूली-सी गति हो तो वह भी पर्याप्त है; विरोधी शक्तियाँ तुरत तुम पर चढ़ आती हैं और उनका आक्रमण बहुधा रोग का रूप धारण कर लेता है।

परन्तु क्या यह ठीक नहीं है कि कभी-कभी रोगजनक कीटाणुओं के कारण ही रोग होते हैं, योग-साधना के कारण नहीं?

योग का आरम्भ कहाँ होता है और अन्त कहाँ? क्या तुम्हारा सारा जीवन ही योग नहीं है? तुम्हारे शरीर में और तुम्हारे चारों ओर रोग की सम्भावनाएँ सदा बनी रहती हैं; तुम्हारे अन्दर या तुम्हारे चारों तरफ़ सब प्रकार की बीमारियों के कीटाणु या जीवाणु मँडराते रहते हैं। तुम्हें जो रोग वर्षों से नहीं हुआ उसके तुम एकाएक शिकार क्यों हो जाते हो? तुम कहोगे कि इसका कारण "प्राण-शक्ति का मन्द पड़ जाना" है। परन्तु यह मन्दता कहाँ से आती है? यह सत्ता में किसी प्रकार का असामञ्जस्य होने से, भागवत शक्तियों के प्रति ग्रहणशीलता का अभाव होने से आती है। जब तुम उस शक्ति और ज्योति से, जो तुम्हारा धारण-पोषण करती है, अपने-आपको काट लेते हो तब यह मन्दता आती है। तब जिसको चिकित्सा-शास्त्र "रोग के लिए अनुकूल क्षेत्र" कहते हैं वह तैयार हो जाता है और कोई चीज़

इसका फ़ायदा उठा लेती है। सन्देह, निरुत्साह, विश्वास का अभाव, स्वार्थ के साथ अपनी ओर ही मुड़ना—ये चीज़ें हैं जो ज्योति और दिव्य शक्ति से तुम्हें काट देती हैं और आक्रमण के लिए लाभकर होती हैं। तुम्हारे बीमार पड़ने का असली कारण यही है, न कि रोग के कीटाणु।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ६३-६४

भय और बीमारी

क्या कोई डर के कारण बीमार हो सकता है?

हाँ। मैं एक आदमी को जानती थी जो इतना अधिक डरा हुआ था कि उसे हैज़ा हो गया! उसके पड़ोस में हैज़ा था। वह इतना अधिक डर गया कि बिना किसी और कारण के वह बीमार हो गया। उसे हैज़ा होने का कोई और कारण न था: उसे केवल भय के कारण हैज़ा हुआ था। और यह बहुत आम बात है; किसी महामारी में अधिकतर रोगियों के साथ ऐसा ही होता है। भय के कारण द्वार खुल जाता है और तुम्हें बीमारी लग जाती है। जिनमें भय नहीं है वे आज़ादी से घूम-फिर सकते हैं और साधारणतः उन्हें कुछ नहीं होता। फिर जैसा कि मैंने कहा है, हो सकता है कि तुम्हारे मन में भय न हो, तुम्हारे प्राण में भी कोई भय न हो, लेकिन ऐसा कौन है जिसके शरीर में भय न हो?... बहुत ही कम।

शरीर को भय से मुक्त करने के लिए कड़ी साधना की ज़रूरत होती है। कोषाणु स्वयं काँपते हैं। केवल साधना के द्वारा, योग के द्वारा तुम इस भय को जीत सकते हो। लेकिन यह एक तथ्य है कि भय के कारण तुम किसी भी रोग को पकड़ सकते हो, दुर्घटना को भी बुला सकते हो। और फिर देखो, एक दृष्टि से हर चीज़ छूत से आ सकती है। मैंने एक आदमी को देखा था जिसे किसी और का घाव देख कर डर के मारे घाव हो गया। उसे सचमुच हो गया।

मानसिक, प्राणिक और शारीरिक भय में क्या भेद है?

अगर तुम अपने मन की गतिविधि, अपने प्राण की गतिविधि और अपने

शरीर की गतिविधि से परिचित हो तो तुम उसे जान सकते हो।

मानसिक बहुत आसान है : यह है विचार। तुम सोचना शुरू करते हो : उदाहरण के लिए, तुम सोचते हो, यह बीमारी है और यह बीमारी बहुत छुतहा है, शायद मुझे हो जाये, और अगर मुझे हो गयी तो बड़ी मुसीबत होगी। यह न होने पाये, इसके लिए क्या करना चाहिये?... तो मन काँपना शुरू करता है : न जाने कल क्या होगा? इत्यादि।

प्राणिक भय में तुम्हें महसूस होता है। तुम्हें अपने संवेदनों में महसूस होता है। सहसा तुम्हें गर्मी लगती है, तुम्हें ठण्ड लगती है, पसीना छूटने लगता है, सब तरह की अप्रिय चीज़ें होती हैं। और तब तुम्हें लगता है कि तुम्हारा दिल ज़ोरों से धड़क रहा है। तुम्हें अचानक ज्वर हो आता है और रक्त-सञ्चार रुक जाता है और तुम ठण्डे पड़ जाते हो।

भौतिक, हाँ...जब वे दोनों भय न हों तब तुम भौतिक भय के बारे में अवगत हो सकते हो। साधारणतः, दूसरे दोनों बहुत ज़्यादा सचेत होते हैं। वे तुम्हारी आँख से भौतिक भय को ओझल कर देते हैं। लेकिन जब तुम्हारे अन्दर कोई मानसिक या प्राणिक भय न रहे, तब तुम भौतिक भय के बारे में जान सकते हो। यह एक अजीब-सा, छोटा-सा स्पन्दन होता है जो तुम्हारे कोषाणुओं में घुस जाता है और वे उस तरह से काँपने लगते हैं। लेकिन कोषाणु हृदय की तरह नहीं होते जो बहुत तेज़ी से धड़कता है। स्वयं कोषाणु बस ज़रा-सी सिहरन के साथ काँप उठते हैं। और इसे वश में करना बहुत कठिन है। फिर भी इसे वश में किया जा सकता है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. १८४-८५

भौतिक अवस्था और श्रद्धा

ऐसे साधु हैं, तुम जानते हो, जो साधुत्व के लिए गन्दे जीवन की अवस्था स्वीकार करते हैं। वे कभी स्नान नहीं करते और स्वास्थ्य की दृष्टि से जो चीज़ें ज़रूरी हैं उनमें से कोई चीज़ उनके पास नहीं होती। वे सचमुच गन्दी स्थिति में रहते हैं—और वे सब बीमारियों से अछूते रहते हैं। शायद इसलिए कि उनमें श्रद्धा होती है और वे जान-बूझकर ऐसा करते हैं। उनकी मनोदशा बहुत अच्छी होती है...। मैं निष्कपट लोगों की बात कर रही हूँ, ढोंगियों की नहीं। उनमें श्रद्धा होती है। वे अपने शरीर के बारे में

नहीं सोचते, वे अपनी अन्तरात्मा के जीवन के बारे में ही सोचा करते हैं। उन्हें कोई बीमारी नहीं होती। उनमें से कुछ ऐसी स्थिति में पहुँच जाते हैं जिसमें एक भुजा या एक पैर या शरीर का कोई और भाग उनकी तपस्या के आसन आदि के कारण बिलकुल अकड़ जाता है। वे उसे बिलकुल हिला तक नहीं सकते; कोई और हो तो ऐसी स्थिति में मर जाये; परन्तु वे जीते रहते हैं, क्योंकि उनमें श्रद्धा होती है और वे यह किसी प्रयोजन से करते हैं। यह ऐसी चीज़ है जो उन्होंने अपने ऊपर स्वयं लगायी है।

इसलिए नैतिक अवस्था भौतिक अवस्था से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। अगर तुम ऐसे वातावरण में हो जहाँ सभी साफ़-सुथरे रहते हैं और वहाँ तुम तीन दिन भी बिना नहाये रहो तो बीमार पड़ जाओगे। कहने का मतलब यह नहीं कि तुम्हें नहाना नहीं चाहिये! हम साधु नहीं होना चाहते, हम योगी होना चाहते हैं। और ये दोनों चीज़ें एक ही नहीं हैं। और हम चाहते हैं कि शरीर भी योग में भाग ले। इसलिए उसे स्वस्थ रखने के लिए जो कुछ ज़रूरी है, वह हमें करना चाहिये। फिर भी, यह सब तुम्हें यह बताने के लिए है कि नैतिक अवस्था भौतिक अवस्था से बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण होती है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. १८८-८९

स्पन्दनों की छूत

अगर तुम पूरी तरह किसी सामञ्जस्यपूर्ण वातावरण में होते जहाँ सब कुछ पूर्ण रूप से सद्भावना से भरा होता, तो स्वाभाविक है कि केवल तुम ही दोषी होते। परन्तु जो कठिनाइयाँ अन्दर हैं वे ही बाहर भी हैं। तुम एक हद तक, आन्तरिक सन्तुलन स्थापित कर सकते हो, लेकिन तुम एक ऐसे वातावरण में रहते हो जो असन्तुलन से भरा है। जब तक कि तुम एकदम अलग-थलग, एकान्तवास में न होओ (जो सिर्फ़ कठिन ही नहीं, हमेशा बहुत वाञ्छनीय भी नहीं होता), तब तक तुम बाहर से आने वाली चीज़ों को लेने के लिए बाध्य हो। तुम देते हो और तुम लेते हो; तुम साँस लेते हो और आत्मसात् करते हो। इससे एक मिश्रण तैयार हो जाता है। इसी से हम कह सकते हैं कि हर चीज़ छुतहा है, क्योंकि तुम सतत स्पन्दन की अवस्था में रहते हो। तुम अपने स्पन्दन देते हो और दूसरों के

स्पन्दन ग्रहण भी करते हो। और ये स्पन्दन बहुत जटिल प्रकार के होते हैं। और फिर (हम भाषा की सरलता के लिए कह लें) मानसिक स्पन्दन हैं, प्राणिक स्पन्दन हैं, भौतिक स्पन्दन हैं और ऐसे ही और बहुत-से हैं। तुम देते हो और तुम लेते हो; तुम देते हो और तुम लेते हो। यह खेल निरन्तर चलता रहता है। अगर यह मान भी लिया जाये कि दुर्भावना नहीं है, फिर भी आवश्यक रूप से छूत तो है ही। और जैसा कि मैं अभी कह रही थी, हर चीज़ छुतहा है, सब कुछ। तुम किसी दुर्घटना का परिणाम देखते हो : तुम कुछ स्पन्दन अपने अन्दर सोख लेते हो। और अगर तुम बहुत ज़्यादा संवेदनशील हो, और इस मामले में तुम भयभीत हो गये या तुम्हारे अन्दर जुगुप्सा पैदा हुई (दोनों एक ही हैं, जुगुप्सा भौतिक भय की नैतिक अभिव्यक्ति है), तो दुर्घटना तुम्हारे शरीर में भौतिक रूप में अनूदित हो सकती है।

दुर्भावना और मानसिक रचनाएँ

दुर्भाग्यवश दुनिया में बहुत सारी दुर्भावनाएँ हैं, और विभिन्न प्रकार की दुर्भावनाओं में से छोटी-छोटी अज्ञान और मूर्खता से आती हैं, फिर बड़ी हैं जो कुटिलता से आती हैं और कुछ भयंकर हैं जो भगवद्-विरोधी शक्तियों का परिणाम होती हैं। तो यह सब वातावरण में रहता है, (मैं तुम्हें ये बातें इसलिए नहीं बता रही कि तुम डर जाओ, यह तो जानी हुई बात है कि तुम्हें किसी भी चीज़ से डरना नहीं चाहिये—फिर भी स्थिति ऐसी है), और ये चीज़ें तुम्हारे ऊपर आक्रमण करती हैं, कभी-कभी जान-बूझकर, स्वेच्छा से और कभी अनजाने, अनिच्छा से। अनिच्छा से, यह दूसरों के द्वारा होता है : दूसरों पर आक्रमण होता है, उन्हें पता नहीं होता और वे उसे जाने-देखे बिना आगे चला देते हैं। वे पहले शिकार होते हैं। वे बीमारी को दूसरों तक पहुँचा देते हैं। लेकिन स्वेच्छा से, जान-बूझकर किये गये आक्रमण भी होते हैं। उस दिन हम लोग मानसिक रचनाओं की और दुष्ट लोगों की बात कर रहे थे जो तुम्हें तकलीफ़ पहुँचाने के लिए मानसिक रचनाएँ बनाते हैं, जो उन्हें जान-बूझकर, स्वेच्छा से बुरा करने के लिए ही बनाते हैं। और फिर ऐसे भी हैं जो इनसे भी एक क़दम आगे हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. १९६-९७, १९७-९८

बीमारी तथा भय

कुछ ऐसी शिक्षाएँ भी होती हैं, उदाहरणार्थ, थियोसोफ़ी की, जो 'कर्म' को एक बिलकुल तलीय और मानवीय अर्थ में ही लेती हैं और तुमसे कहती हैं : "ओह! तुम्हारे साथ यह दुर्घटना इसलिए हुई कि पूर्व जन्म में तुमने कोई बुरा काम किया था, इसलिए वही तुम पर अब दुर्घटना के रूप में आया है।" यह ठीक नहीं है, बिलकुल ठीक नहीं है। यह न्याय केवल मानवीय न्याय है, 'प्रकृति' का न्याय या भगवान् का न्याय नहीं।

स्वभावतया शरीर की रचना इस अर्थ में बहुत महत्त्व रखती है कि यदि व्यक्ति, उदाहरणार्थ, सदा ही अवसाद, निराशा या निरुत्साह के प्रभाव के तले रहे और जीवन में विश्वास या भरोसे को खो दे, तो कहा जा सकता है कि यह सब उसकी सत्ता में घुस जाता है और तब कुछ लोग दुर्घटना की सम्भावना होते ही उससे अवश्यम्भावी रूप से ग्रस्त हो जाते हैं। जब कभी उनके साथ कुछ होने की सम्भावना होती है, चाहे वह दुर्घटना हो या कोई रोग, वे उसकी चपेट में आ जाते हैं। तुम्हारे सामने निरीक्षण के लिए सारा क्षेत्र खुला पड़ा है—हमेशा वह-के-वही लोग दुर्घटनाओं की चपेट में आते हैं। दूसरे भी वही कार्य करते हैं, उनके साथ भी दुर्घटना के कई अवसर आते हैं, किन्तु वे अछूते बने रहते हैं। यदि तुम इनके चरित्र का निरीक्षण करो तो देखोगे कि पहले प्रकार के व्यक्तियों की प्रवृत्ति निराशावादी होती है और वे किसी असुखकर घटना की ही आशा करते रहते हैं—और फिर वह हो भी जाती है। या फिर उनमें हर समय एक भय समाया रहता है। हम जानते हैं कि भय सदा वही वस्तु हमारे सामने ले आता है जिससे हम भय खाते हैं। यदि तुम दुर्घटना से डरते हो, तो यह डर उसे तुम्हारी ओर ले आने के लिए चुम्बक का काम करेगा। इस अर्थ में, यह कहा जा सकता है कि यह व्यक्ति के चरित्र का ही परिणाम है। और यही बात बीमारी के साथ भी है। कुछ लोग बीमारों के बीच तथा उस स्थान पर जहाँ महामारी फैली हुई है, बड़े आराम से घूम-फिर सकते हैं, उन्हें कभी कोई बीमारी नहीं होती। और कुछ ऐसे होते हैं जिनके लिए किसी रोगी के साथ एक घण्टा बिताना ही काफ़ी होता है, वे चट-से बीमारी की लपेट में आ जाते हैं। यह भी उसी पर निर्भर करता है कि वे अपने अन्दर क्या हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. २

जब सामञ्जस्य टूट जाये...

एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ "बीमारी" और "इलाज" अलग-अलग नहीं रहते, बल्कि अव्यवस्था और अफ़रा-तफ़री, सामञ्जस्य और व्यवस्था—सब एक साथ आ जाते हैं।... दो बाते हैं... एक वह जिसे मैंने कई बार देखा है। कोई बीमारी उठ आती है, या कोई अव्यवस्था पैदा हो जाती है, और यह एक तरह का... यह छुतहा नहीं होता (कैसे समझाऊँ इसे?), वह मानों एक तरह की "नक़ल" होती है, शायद ठीक-ठीक नक़ल भी नहीं। चलो, इसे इस तरह देखें कि शरीर के कुछ कोषाणु किसी-न-किसी कारण हथियार डाल देते हैं (असंख्य कारण हो सकते हैं), वे अव्यवस्था के आगे झुक जाते हैं—वे अव्यवस्था के कहे अनुसार चलने लगते हैं—और फिर अन्दर कोई स्थान "बीमार" पड़ जाता है—यह है बीमारी का सामान्य दृष्टिकोण। लेकिन फिर वह 'अव्यवस्था' शरीर में हर जगह हस्तक्षेप करने लगती है, सारे शरीर में मानों उसकी प्रतिध्वनि होने लगती है और शरीर का जो बिन्दु कमज़ोर होता है, जो प्रहार को सह नहीं पाता, वह वहीं प्रकट हो जाती है। ऐसे किसी को लो जिसे प्रायः सिरदर्द या दाँत का दर्द, खाँसी या नसों में दर्द होता है, यह कुछ भी हो सकता है, ऐसी अनगिनत चीज़ें हैं जो व्यक्ति के शरीर में आती हैं, जाती हैं, कभी बढ़ती हैं, कभी घटती हैं। लेकिन अगर कहीं कोई 'अव्यवस्था' प्रहार कर बैठे, गम्भीर प्रहार, तो वे सभी छोटी-मोटी तकलीफ़ें फ़ौरन शरीर में इधर-उधर उठ आती हैं... यह एक तथ्य है, मैंने इस पर ग़ौर किया है। और इसके विपरीत गति भी समान तरीक़ा अपनाती है : अगर तुम प्रहार के स्थान पर सच्चा 'स्पन्दन' ला सको—'व्यवस्था' और 'सामञ्जस्य' का 'स्पन्दन'—और तुम अव्यवस्था पर तुरन्त क़ाबू पा लोगे... बाक़ी सभी चीज़ें मानों अपने-आप ही व्यवस्था में लौट आयेंगी।...

और यह छूत से नहीं होता... सच्चाई तो यह है कि वह 'सामञ्जस्य', जो सारे शरीर को बाँधे रखता है, वह बीमारी को रास्ता दे देता है, तो सब कुछ बिखर जाता है (हर चीज़ अपने ही रास्ते चलने लगती है)।

यहाँ मैं शरीर के कोषाणुओं की बात कर रही हूँ, लेकिन यही बात बाहरी घटनाओं पर, यहाँ तक कि जगत् की घटनाओं पर भी लागू होती है। यहाँ तक कि भूकम्पों, ज्वालामुखी-विस्फोटों आदि के बारे में भी यही

विलक्षण चीज़ घटती है; तब ऐसा लगता है मानों सारी पृथ्वी एक शरीर है, यानी, अगर शरीर का एक बिन्दु 'अव्यवस्था' के लिए रास्ता खोल दे, तो सभी संवेदनशील बिन्दुओं पर दुःख टूट पड़ता है और उसका वही समान असर होता है।

मानव-दृष्टिकोण से, भीड़ में, यह बहुत प्रत्यक्ष होता है, यानी, किसी स्पन्दन की छूत बड़ी आसानी से लग जाती है—ख़ास तौर पर अव्यवस्था के स्पन्दनों की छूत। (वैसे दूसरे स्पन्दनों की भी लगती ही रहती है।)

'एकता' के बिखराव का यह एकदम ठोस प्रदर्शन है। बहुत मज़ेदार होता है यह... शरीर के कोषाणुओं के स्तर पर इस चीज़ को मैंने सैकड़ों, सैकड़ों बार परखा है। और तब तुम्हारी दृष्टि विशाल हो जाती है। तुम्हारे अन्दर वह मानसिक छाप नहीं बनती कि एक "अव्यवस्था" उठी, उससे एक और जुड़ गयी, ऐसे ही गोला बड़ा बनता गया—अगर तुम यही सोचते रहो तो समस्या बहुत "जटिल" हो जायेगी—और सचमुच तुम्हें ऐसा सोचना भी नहीं चाहिये, बात ऐसी बिलकुल नहीं है... पते की बात यही है कि ऐसे समय तुम्हें अपने केन्द्र में जाना चाहिये, बस, बाक़ी सब कुछ स्वाभाविक रूप से व्यवस्था के क्रम में आ जायेगा। और यह एक तथ्य है : अगर अव्यवस्था के अन्दर व्यवस्था को दोबारा बिठा दिया जाये तो बाक़ी सब बड़ी आसानी से—विशेष ध्यान न देने पर भी—स्वभावतः, भला-चंगा हो जाता है।

मानव-दृष्टिकोण से, क्रान्तियों के दृष्टिकोण से, लड़ाई-झगड़ों के दृष्टिकोण से, युद्धों के दृष्टिकोण से—यह बात विलक्षण रूप से पूरी-पूरी सही और ठीक है।

यह है 'एकता' का एकदम प्रत्यक्ष उदाहरण।

और 'एकता' का यही ज्ञान तुम्हारे हाथ में हर चीज़ की चाबी थमा देता है। कभी-कभी लोग-बाग इस बात पर आश्चर्य करते हैं कि कैसे किसी एक व्यक्ति की क्रिया या विचार व्यवस्था को ले आया—लो, यह है उसका रहस्य। तो, अब क्या तुम्हें मुसीबत में पड़े सभी बिन्दुओं के बारे में सोचना है? नहीं : तुम्हें केन्द्र में पहुँचना है। और तब सब कुछ स्वाभाविक रूप से पुनः व्यवस्था में लौट आयेगा।

एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से *२६ सितम्बर १९६४*

"प्रभो, अपने राज्य पर अधिकार कर लो।" मुझे याद है, कुछ चीज़ों के लिए, जब अमुक अव्यवस्थाएँ सिर उठाती हैं, कुछ गड़बड़ चलती है तो अपनी उस चेतना के अन्तर्दर्शन द्वारा जो इतनी तीव्र हो जाती है कि तुम देख सकते हो कि कब वह अव्यवस्था किसी बीमारी का या किसी बहुत गम्भीर चीज़ का स्वाभाविक उद्‌गम है, तब प्रभु की ओर टेर लगाने और एकाग्रता के चरम बिन्दु पर पहुँचने पर तुम्हें उत्तर मिल जाता है... (अव्यवस्था घुल जाती है)। यह एक प्रकार से समर्पण है, क्योंकि यह बिना मोल-तोल के आत्मोत्सर्ग है : क्षतिग्रस्त हिस्सा 'प्रभाव' के प्रति खुल जाता है, रोगमुक्त होने के विचार से शायद नहीं, बल्कि इस तरह *(फूल के खिलने की मुद्रा)*, बस सहज रूप से इस तरह, बिना किसी शर्त के—यह है सबसे समर्थ क्रिया।

एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से

स्वास्थ्य को पुनः प्राप्त करना

स्वास्थ्य की छूत

एक बात सभी लोगों ने, यहाँ तक कि चिकित्सक-दल ने भी, अब स्वीकार करनी आरम्भ कर दी है और वह यह है कि स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियम केवल उसी हद तक प्रभावशाली होते हैं जिस हद तक उन पर मनुष्य का विश्वास होता है। किसी महामारी का उदाहरण ले लो। बहुत वर्ष पूर्व यहाँ हैज़े की महामारी फैली थी—अवस्था बहुत बुरी थी—परन्तु अस्पताल का प्रधान डॉक्टर बड़ा कर्मठ व्यक्ति था: उसने प्रत्येक व्यक्ति को टीका देने का निश्चय किया। टीका देकर जब वह लोगों को विदा करता तो उनसे कहा करता, "अब तुम्हें टीका लग गया है और तुम्हें कुछ नहीं होगा, परन्तु तुमने यदि टीका नहीं लगवाया होता तो तुम अवश्य मर गये होते!" वह यह बात बड़े अधिकार के साथ उनसे कहता था। साधारणतया ऐसी महामारी बहुत दिनों तक बनी रहती है और उसे रोकना कठिन होता है, परन्तु, मैं समझती हूँ, लगभग पन्द्रह दिनों में उस चिकित्सक को उसे रोकने में सफलता मिल गयी; जो हो, यह कार्य आश्चर्यजनक शीघ्रता के साथ हुआ। परन्तु उस डॉक्टर को यह अच्छी तरह मालूम था कि उसके टीका लगाने का सर्वोत्तम प्रभाव यह था कि उसने लोगों में विश्वास जमा दिया।

अभी, बिलकुल हाल में, उन लोगों को एक दूसरी चीज़ मिली है और उसे मैं अद्‌भुत चीज़ मानती हूँ। उन्होंने यह पता लगाया है कि प्रत्येक रोग के लिए एक सूक्ष्माणु (microbe) होता है जो उसे दूर कर देता है (तुम यदि चाहो तो उसे सूक्ष्माणु कहो, पर बहरहाल, वह एक प्रकार का कीटाणु (germ) है)। परन्तु इसमें जो इतनी असाधारण बात है वह यह है कि यह "सूक्ष्माणु" अत्यन्त ही संक्रामक है, रोगों के कीटाणुओं से भी कहीं अधिक संक्रामक है। और यह सामान्यतया दो अवस्थाओं में विकसित होता है: उन लोगों में जिनमें एक प्रकार की स्वाभाविक प्रसन्नता और स्फूर्ति होती है और फिर उन लोगों में जिनमें नीरोग होने की प्रबल इच्छा होती है। अचानक वे लोग इस "सूक्ष्माणु" को पकड़ लेते हैं और नीरोग हो जाते हैं। और अद्‌भुत बात यह है कि महामारी में यदि कोई एक व्यक्ति नीरोग हो जाये तो तीन और व्यक्ति तुरन्त नीरोग हो जाते हैं। और यह "सूक्ष्माणु"

उन सभी लोगों में पाये जाते हैं जो नीरोग हो जाते हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. २५०-५१

अपने चारों तरफ़ शान्त वातावरण बनाये रखो

अगर तुम बहुत अधिक शान्त स्पन्दनों को प्राप्त करना जानते हो, इतने शान्त कि वे तुम्हारे चारों ओर एक दीवार-सी खड़ी कर दें, तो यह हमेशा सुरक्षा के वातावरण द्वारा अपने-आपको अलग कर लेने का एक तरीक़ा होता है। लेकिन तुम सारे समय, सारे समय, बाहर से आने वाले स्पन्दनों के उत्तर में स्पन्दित होते रहते हो। अगर तुम्हें इसका भान हो, तो सारे समय कोई चीज़ यूँ करती रहती है *(संकेत)* इस तरह, इस तरह, इस तरह *(संकेत)*, जो बाहर से आने वाले सभी स्पन्दनों का उत्तर देती है। तुम कभी पूरी तरह उस बिलकुल शान्त वातावरण में नहीं रहते जो तुम्हारे अन्दर से निकलता है, यानी, जो अन्दर से बाहर की ओर आता है (कोई ऐसी चीज़ नहीं जो बाहर से अन्दर की ओर आती हो), वह तुम्हारे चारों ओर लिफ़ाफ़े के जैसी चीज़ है, बहुत शान्त, इस तरह—और तुम चाहे जहाँ चले जाओ और ये स्पन्दन जो बाहर से आते हैं तुम्हारे वातावरण के चारों ओर इस तरह *(संकेत)* करना नहीं शुरू करते।...

फिर भी, कम गम्भीर चीज़ों में भी, तुममें से हर एक के चारों ओर व्यक्तिगत रूप से ऐसी चीज़ होती है जो बहुत व्यक्तिगत और बहुत शान्त आवरण होने की जगह, जो तुम्हें ऐसी सब चीज़ों से बचाये रखे जिन्हें तुम नहीं पाना चाहते... मेरा मतलब है कि तुम्हारी ग्रहणशीलता सुविवेचित और सचेतन हो जाती है, अन्यथा तुम ग्रहण नहीं कर सकते; केवल तभी जब तुम्हारे अन्दर यह सचेतन अत्यन्त शान्त वातावरण हो, और जैसा कि मैं कहती हूँ, जब वह अन्दर से आये (यह कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो बाहर से आती हो), केवल तभी जब ऐसा हो तो तुम जीवन में, अर्थात्, दूसरों के बीच, हर क्षण की सभी परिस्थितियों में सुरक्षित रूप से चल सकते हो...

अन्यथा यदि कोई संक्रामक चीज़ जिसकी छूत लग सकती है, उदाहरण के लिए, क्रोध, भय, रोग, कुछ बेचैनी, तो तुम निश्चय ही उसके चंगुल में फँस जाते हो। जैसे ही वह यूँ करना शुरू करे *(संकेत)*, तो यह ऐसा

है मानों तुम उन जैसे सभी स्पन्दनों को बुलाते हो ताकि वे आकर तुम्हें पकड़ लें।

आश्चर्य की बात यह है कि मनुष्य कितने अचेतन रूप में अपना जीवन यापन करते हैं; वे यह जानते ही नहीं कि कैसे जिया जाये। करोड़ों में एक भी नहीं है जो जानता हो कि कैसे जिया जाये, और वे किसी-न-किसी तरह, लँगड़ाते हुए, सम्भलते, न सम्भलते जी लेते हैं; और यह सब उनके लिए, छिः! यह क्या है? वे वस्तुएँ जो घटती रहती हैं।

वे जीना जानते ही नहीं, फिर भी, व्यक्ति को सीखना चाहिये कि कैसे जिया जाये। यह पहली चीज़ है जो बच्चों को सिखानी चाहिये: वे यह सीखें कि कैसे जिया जाये। मैंने कोशिश तो की है पर पता नहीं मैं बहुत सफल हूँ या नहीं। मेरा ख़याल है कि मैंने ये सब बातें तुमसे बहुत बार कही हैं, नहीं कहीं क्या? नहीं कहीं?

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. १६२-६४

सन्तुलन को बनाये रखो

वास्तव में बीमारी केवल एक असन्तुलन है; इसलिए अगर तुम एक और सन्तुलन स्थापित कर लो तो यह असन्तुलन ग़ायब हो जाता है। रोग हमेशा, हर दशा में, सत्ता का असन्तुलन मात्र है—तब भी जब डॉक्टर कहते हैं कि कीटाणु हैं—विभिन्न क्रियाओं में असन्तुलन, शक्तियों में असन्तुलन।

इसका यह मतलब नहीं है कि कीटाणु नहीं हैं: कीटाणु हैं, और आजकल जितने ज्ञात हैं उनसे बहुत ज़्यादा हैं। लेकिन तुम उनके कारण बीमार नहीं होते, क्योंकि वे तो हमेशा रहते हैं। वे हमेशा बने रहते हैं और दिन-पर-दिन बीतते जाते हैं और वे तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ते और फिर अचानक, एक दिन, उनमें से एक तुम्हें पकड़ लेता है और तुम बीमार हो जाते हो—क्यों? सिर्फ़ इसलिए कि हमेशा की तरह सामान्य प्रतिरोध नहीं था, क्योंकि किसी भाग में असन्तुलन था और क्रिया सामान्य नहीं थी। लेकिन अगर किसी आन्तरिक शक्ति से, तुम सन्तुलन फिर से स्थापित कर सको तो बीमारी का अन्त हो जायेगा, कोई कठिनाई न रहेगी, असन्तुलन ग़ायब हो जायेगा।

लोगों को रोग-मुक्त करने का कोई और तरीक़ा नहीं है। व्यक्ति तभी

रोग-मुक्त होता है जब वह असन्तुलन को देख सके और फिर से सन्तुलन स्थापित कर सके। हाँ, तुम्हें दो एकदम अलग तरह की श्रेणियों से काम पड़ता है...। कुछ लोग अपने असन्तुलन को पकड़े रहते हैं—वे उसे पकड़े रहते हैं, उसके साथ चिपके रहते हैं, उसे छोड़ना नहीं चाहते। तब तुम चाहे जितना कड़ा प्रयास कर लो, चाहे तुम सन्तुलन ला दो, फिर भी वे अगले ही क्षण असन्तुलित हो जायेंगे क्योंकि उन्हें उससे प्रेम है। वे कहते हैं : "नहीं, नहीं! मैं बीमार नहीं होना चाहता," लेकिन उनके अन्दर कोई चीज़ किसी असन्तुलन को मज़बूती से पकड़े रहती है, जो उसे नहीं छोड़ना चाहती। इसके विपरीत, दूसरी ओर ऐसे लोग होते हैं जो निष्कपट-भाव से सन्तुलन से प्यार करते हैं और जैसे ही तुम उन्हें सन्तुलन तक लौट आने की क्षमता दो कि सन्तुलन फिर से स्थापित हो जाता है और कुछ ही क्षणों में वे रोग-मुक्त हो जाते हैं। उनके अन्दर फिर से व्यवस्था लाने के लिए काफ़ी ज्ञान नहीं था, काफी शक्ति नहीं थी—असन्तुलन एक अव्यवस्था ही तो है। लेकिन अगर तुम हस्तक्षेप करो, अगर तुम्हारे अन्दर ज्ञान है और तुम सन्तुलन को पुनः स्थापित कर दो तो स्वभावतः बीमारी ग़ायब हो जायेगी; और जो लोग तुम्हें यह करने देंगे वे रोग-मुक्त हो जायेंगे। केवल वही जो यह नहीं करने देते, वे रोग-मुक्त नहीं होते, और यह स्पष्ट है। वे तुम्हें क्रिया नहीं करने देते, वे बीमारी से चिपके रहते हैं। मैं उनसे कहती हूँ : "ओह! तुम रोग-मुक्त नहीं हुए? तब डॉक्टर के पास जाओ।" और सबसे अजीब बात यह है कि उन्हें डॉक्टरों पर विश्वास होता है, हालाँकि क्रिया वही रहती है! हर डॉक्टर जो थोड़ा-बहुत दार्शनिक भी हो, तुमसे कहेगा : "बात ऐसी ही है। हम चिकित्सक केवल एक अवसर देते हैं, लेकिन सचमुच तो स्वयं शरीर अपने-आपको अच्छा कर लेता है। जब शरीर रोग-मुक्त होना चाहता है तो रोग-मुक्त हो जाता है।" हाँ तो, ऐसे शरीर हैं जो सन्तुलन को तब तक स्थापित नहीं होने देते जब तक उन्हें कोई दवाई या कोई और बहुत निश्चित चीज़ अपने अन्दर लेने के लिए बाधित नहीं किया जाता जिससे उन्हें यह लगे कि उनकी परिचर्या भली-भाँति की जा रही है। लेकिन अगर तुम उनकी एक बहुत ठीक, यथार्थ चिकित्सा करो—जिसका अनुसरण करना कभी-कभी बहुत कठिन होता है, तो उन्हें विश्वास होने लगता है कि फिर से सन्तुलन पा लेने से ज़्यादा अच्छा कुछ

नहीं है और उन्हें सन्तुलन वापस मिल जाता है!

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. १३२-३४

अपने अन्दर शान्ति, अचञ्चलता, शिथिलता ले आओ

व्यक्ति साधारण इलाज कर सकता है और कई बार इसमें सफलता मिल भी जाती है। पर ऐसा सामान्यतया तभी होता है जब शरीर को यह पूरा विश्वास हो जाता है कि उसे ऐसी अवस्थाएँ प्रदान कर दी गयी हैं जिनमें उसे स्वस्थ हो जाना चाहिये। और वह निश्चय कर लेता है कि उसे अब ठीक होना है, इस प्रकार वह ठीक हो जाता है। किन्तु यदि तुम्हारे शरीर में संकल्प नहीं है, ठीक होने का निश्चय नहीं बना, तो तुम चाहे जो भी प्रयत्न करो, रोग दूर नहीं होगा। यह भी मैं अनुभव से देख चुकी हूँ। क्योंकि मैं ऐसे लोगों को जानती थी जिन्हें पाँच मिनट में रोग-मुक्त किया जा सकता था, रोग उनका चाहे कितना ही गम्भीर क्यों न रहा हो; इसके विपरीत, मैं ऐसे लोगों को भी जानती थी जिन्हें कोई घातक रोग नहीं था, पर वे उसे इतने लम्बे समय तक पोसते रहे कि वह अन्त में घातक ही सिद्ध हुआ। उनके शरीर को इसके लिए मना सकना असम्भव था कि वे रोग-मुक्त हो जायें।

अब यहीं व्यक्ति को बहुत सावधान रहने की ज़रूरत है, उसे अपने-आपको विवेकशील दृष्टि से देखने और अपने अन्दर उस छोटे-से भाग की खोज करने की ज़रूरत है जो—कैसे कहा जाये?—बीमार होने में सुख मानता है। उफ़! कारण कितने ही हैं। कुछ ऐसे लोग हैं जो ईर्ष्यावश बीमार पड़ते हैं, कुछ घृणावश बीमार पड़ते हैं और कुछ निराशावश, कुछ...। और ये कोई बहुत बड़ी क्रियाएँ नहीं होतीं : यह सत्ता में एक बहुत छोटी-सी क्रिया होती है : तुम चिढ़ उठते हो और कहते हो : "तुम देखोगे कि अब क्या होता है, उसने जो कुछ मेरे साथ किया है उसका परिणाम अब तुम देखोगे, इसे आने दो! मैं अब बीमार पड़ूँगा।" तुम यह सब प्रकट रूप में नहीं करते, क्योंकि वैसा होने पर तुम अपने को फटकारोगे, किन्तु कहीं कोई ऐसी वस्तु होती है जो इस प्रकार सोचती है।

जब तुम अपने अन्दर की असंगति को ढूँढ़ निकालते हो, चाहे वह छोटी हो या बड़ी, तो तुम्हें दो कार्य करने होते हैं। पहला, हम कह चुके हैं कि

यह असंगति भौतिक सत्ता में, शरीर में, एक प्रकार का कम्पन और शान्ति का अभाव पैदा करती है। यह एक प्रकार का ज्वर ही है। सामान्य रूप में यह ज्वर न भी हो, पर स्थानीय ज्वर तो यह होता ही है। कुछ लोग इससे व्यग्र हो उठते हैं। तो करने-योग्य पहला कार्य है, अपने-आपको उद्वेग-रहित करना, फिर इस छोटे-से कोने में (ज़रूरी नहीं है कि सारे शरीर में) शान्ति, स्थिरता, शरीर में ढीलापन और पूरा-पूरा आत्मविश्वास स्थापित करना। इसके बाद तुम्हें उस अस्तव्यस्तता का कारण ढूँढ़ना चाहिये। तुम ढूँढ़ो। कारण तो वैसे कई होते हैं, पर तुम इस अस्तव्यस्तता का निकट-से-निकट कारण ढूँढ़ने का प्रयत्न करो, और प्रकाश के दबाव, ज्ञान और आध्यात्मिक शक्ति से अपने अन्दर समस्वरता और उचित क्रिया-कलाप को फिर से स्थापित करो। और यदि अस्वस्थ भाग ग्रहणशील होगा और हठपूर्वक प्रतिरोध नहीं करेगा, तो तुम कुछ सेकेण्डों में ही स्वस्थ हो सकते हो।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. २०४-०५

उत्तम इलाज

... फिर भी, यदि एक बार तुम जान लो कि भय न तो ज़रा-सी प्रबुद्ध चेतना के लिए अच्छा है, न उसके अनुकूल है, न उदात्त है, न उसे शोभा ही देता है, तो तुम उसके विरुद्ध लड़ना शुरू करते हो, और मैं कहती हूँ : "एक का रास्ता दूसरे का रास्ता नहीं होता। हर एक को अपना-अपना रास्ता खोजना चाहिये, यह हर एक पर निर्भर करता है। भय बहुत ज़्यादा सामूहिक छूत की चीज़ है, सबसे अधिक छूत की बीमारियों से भी ज़्यादा लगने वाली। तुम भय के वातावरण में साँस लो और क्यों और कैसे जाने बिना ही तुम्हें तुरन्त डर लगने लगता है, कुछ भी नहीं, केवल इसलिए कि भय का वातावरण था। किसी दुर्घटना के बाद फैलने वाला आतंक, हर एक के चारों ओर फैलने वाले भय के वातावरण के सिवा कुछ नहीं है। और इसे ठीक करना बहुत सम्भव है। ऐसे बहुत-से उदाहरण हैं जहाँ आतंक को एकदम से बन्द किया जा सका, क्योंकि कुछ लोगों ने उसके सुझाव को स्वीकारने से इन्कार किया और उलटे सुझाव देकर उसे व्यर्थ कर दिया। रहस्यवादियों के लिए सबसे अच्छा इलाज यह है कि जैसे ही किसी चीज़ का डर लगने लगे, बस भगवान् के बारे में सोचें और उन्हीं

की भुजाओं में या उनके चरणों से लिपट जायें और भीतर, बाहर, चहुँ ओर होने वाली हर चीज़ की ज़िम्मेदारी उन्हीं के ऊपर छोड़ दें—भय तत्काल ग़ायब हो जायेगा। रहस्यवादी का इलाज यही है। यह सबसे सरल है। लेकिन हर एक को रहस्यवादी होने की कृपा का सौभाग्य नहीं मिलता।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ३५०-५१

हमेशा सुन्दर विचारों से घिरे रहो

हमने शुरू में ही कहा था: व्यक्ति जिन चीज़ों के बारे में सोचता है उन्हीं से घिरा रहता है। तुम भली-भाँति समझते हो कि इसका क्या मतलब है? *(एक बच्चे की ओर मुड़ कर)* हर बार जब तुम किसी चीज़ के बारे में सोचते हो तो मानों तुम हाथ में चुम्बक लेकर उस चीज़ को अपनी ओर खींचते हो—समझे? कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्हें हर सम्भव विपदा के बारे में सोचते रहने की बहुत, बहुत बुरी आदत होती है। उन्हें सारे समय एक तरह का भय लगा रहता है कि अगले ही क्षण उन पर कोई मुसीबत टूटने वाली है। मैं ऐसे बहुतों को जानती हूँ। यहाँ भी ऐसे लोग हैं। तो ये लोग मानों मुसीबतों को खींचने के लिए हाथ में चुम्बक लिये रहते हैं, केवल अपने ऊपर ही नहीं, औरों पर भी। इससे उन पर बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी आती है। अगर तुम सारे क्षण किसी-न-किसी चीज़ के बारे में सोचना बन्द नहीं कर सकते—कुछ लोगों का मस्तिष्क हमेशा दौड़ता ही रहता है और उन्हें उसे रोकने की तरकीब नहीं आती—तो उसे ग़लत राह पर दौड़ने देने की जगह, ठीक राह पर क्यों न दौड़ाया जाये! एक बार तुम्हारा मस्तिष्क दौड़ना शुरू कर दे तो उसे उन सब अच्छी चीज़ों की ओर दौड़ने दो जो हो सकती हैं। अगर वह गोल-गोल चक्कर लगाने के लिए बाधित है तो उसे अच्छी चीज़ों की ओर मोड़ दो! यानी, अगर कोई बीमार है तो यह कहने की जगह कि "क्या होने वाला है, शायद यह बहुत गम्भीर हो, और अगर यह अमुक बीमारी हो... और मुसीबत कितनी तेज़ी से आती है," इस सबकी जगह अगर तुम सोचो: "ओह! यह कुछ भी नहीं है। बीमारियाँ केवल बाहरी भ्रम हैं जो ज़्यादा गहरे स्पन्दनों को अनूदित करती हैं; ये दिखायी नहीं देते इसलिए हम उनके बारे में बात नहीं करते। लेकिन बात है ऐसी ही। और ये ज़्यादा गहरे स्पन्दन आकर उन चीज़ों को ठीक कर

सकते हैं जो क्षुब्ध हो गयी हैं। और यह असन्तुलन, यह रोग या बुरी चीज़ आयी है, इसे भागवत कृपा सोख लेगी और यह ग़ायब हो जायेगी, इसका कोई चिह्न भी न बच रहेगा। चिह्न रहेगा तो सुखद और प्रिय वस्तुओं का।" तुम इस तरह निरन्तर सोचते रह सकते हो...। लोगों को हमेशा अपने मन को दौड़ाने, दौड़ाने, दौड़ाते रहने की ज़रूरत होती है, तो फिर उसे ठीक रास्ते पर दौड़ाओ, तब तुम उसका प्रभाव देखोगे। उदाहरण के लिए, उसे इस तरह चलने दो : मैं इसे ज़्यादा अच्छी तरह, और भी अच्छी तरह सीखूँगा, ज़्यादा-ज़्यादा जानूँगा, अधिकाधिक स्वस्थ बनूँगा, सब कठिनाइयाँ लुप्त हो जायेंगी, दुष्ट लोग मधुर और अच्छे बन जायेंगे, बीमार लोग स्वस्थ हो जायेंगे, जिन मकानों को बनाने की ज़रूरत है वे बनते जायेंगे, जिन चीज़ों को लुप्त हो जाना चाहिये वे लुप्त हो जायेंगी, लेकिन अपना स्थान ज़्यादा अच्छी चीज़ों को देती जायेंगी और संसार हमेशा निरन्तर प्रगति करता रहेगा और प्रगति के अन्त में पूर्ण सामञ्जस्य होगा और इसी तरह, बस यही जारी रखो...। तुम इस तरह चलते ही चले जा सकते हो। तब फिर तुम्हारे चारों ओर और तुम्हारे सिर के चारों ओर सुन्दर चीज़ें होंगी। जो लोग वातावरण को देख सकते हैं वे स्याह धब्बे देखते हैं, अष्टभुज की तरह, हाँ, स्पर्शकों वाले अष्टभुज की तरह जो तुम्हारे मन को विक्षुब्ध करने की कोशिश करते हैं—इसकी जगह तुम प्रसन्न रचनाएँ देखोगे, सूर्य की किरणों को या प्रकाश की रचनाओं को देखोगे, शायद सुन्दर चित्र और ऐसी ही चीज़ें देखोगे। तुम सुन्दर चीज़ें देखोगे—ऐसे चित्रकार हैं जो यही करते हैं और वे हमेशा विचार पकड़ सकते हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ४२४-२५

बीमारी को रोकना

मधुर माँ, जब हम किसी बीमारी को आते हुए देखें तो उसको किस तरह रोक सकते हैं?

ओह! सबसे पहले, तुम्हें उसकी इच्छा नहीं करनी चाहिये, तुम्हारे शरीर की किसी भी चीज़ को उसकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। तुम्हारे अन्दर बीमार न पड़ने के लिए बहुत प्रबल संकल्प होना चाहिये। यह पहली शर्त है।

दूसरी शर्त है, ज्योति को पुकारना, सन्तुलन की ज्योति को, शान्ति, स्थिरता और सन्तुलन की ज्योति को पुकारना, और उसको शरीर के सभी कोषाणुओं में प्रवेश कराना, उन्हें भयभीत न होने का आदेश देना, क्योंकि यह एक और शर्त है।

पहले, बीमार पड़ने की इच्छा न करना, और फिर बीमारी से भयभीत न होना। तुम्हें न तो बीमारी को आकर्षित करना चाहिये और न उससे काँपना ही चाहिये। बीमारी की इच्छा बिलकुल नहीं करनी चाहिये। लेकिन ऐसा न हो कि भय के कारण तुम उसकी इच्छा न करो, तुम्हें डरना नहीं चाहिये; तुम्हारे अन्दर एक शान्त निश्चिति और पूर्ण विश्वास होना चाहिये कि 'कृपा' की शक्ति सभी चीज़ों से तुम्हारी रक्षा कर सकेगी, और फिर किसी और ही वस्तु के बारे में सोचो, इसके विषय में अब और चिन्ता न करो। जब तुम इन दो चीज़ों को कर लो, अपनी पूरी इच्छा-शक्ति के साथ बीमारी को अस्वीकार करो और एक ऐसे विश्वास से भर जाओ जो कोषाणुओं में से भय को पूरी तरह निकाल दे, और फिर अपने-आपको किसी और चीज़ में व्यस्त कर लो, बीमारी के बारे में अब और न सोचो, यह भूल जाओ कि उसका अस्तित्व है... हाँ, अगर तुम इसे करना जान लो, तो ऐसे लोगों के सम्पर्क में होने पर भी जिन्हें संक्रामक रोग हो, तुम उन रोगों से अछूते रहोगे। लेकिन यह करना आना चाहिये।

बहुत-से लोग कहते हैं : "लो, देखो मैं नहीं डरता।" उनके मन में भय नहीं होता, उनका मन नहीं डरता, वह मज़बूत है, उसे डर नहीं लगता; लेकिन शरीर काँपता है, और व्यक्ति इसे नहीं जानता, क्योंकि शरीर के कोषाणुओं में कम्पन चलता रहता है। वह भयंकर व्याकुलता से काँपता है और यही चीज़ बीमारी को आकर्षित करती है। यहीं पर तुम्हें शक्ति और पूर्ण शान्ति की स्थिरता तथा 'कृपा' में निरपेक्ष श्रद्धा को स्थापित करना चाहिये। और फिर, कभी-कभी अपने विचार की ऐसी ही शक्ति द्वारा तुम्हें इस तरह के सभी सुझावों को खदेड़ना पड़ता है : "आख़िर, भौतिक जगत् बीमारियों से भरा पड़ा है, और ये संक्रामक हैं, और चूँकि हमारा ऐसे व्यक्ति से सम्पर्क था जो बीमार है, इसलिए निश्चय ही हमें भी वह छूत लग जायेगी," या यह कि "आन्तरिक तरीक़े इतने शक्तिशाली नहीं होते कि वे भौतिक पर क्रिया कर सकें", और हर तरह की मूर्खताएँ जो वातावरण

में भरी हुई हैं। ये सामूहिक सुझाव होते हैं जिन्हें हर व्यक्ति एक-दूसरे को देता चला जाता है। और संयोग से अगर वहाँ दो-तीन डॉक्टर हों, तो बस, बात भयंकर हो जाती है। *(हँसी)*

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. १६०-६१

दर्द के लिए रामबाण दवाई

मान लो, किसी बीमारी के परिणामस्वरूप, किसी ख़ास स्थान पर दर्द-सा हो रहा है। उस समय सब कुछ निर्भर करेगा, जैसा कि प्रारम्भ में ही मैंने कहा है, उस दृष्टिकोण पर जो तुम्हारे लिए अत्यन्त परिचित है। परन्तु हम एक उदाहरण दे सकते हैं। तुम्हें दर्द हो रहा है, बहुत दर्द हो रहा है; तुम बहुत अधिक कष्ट में हो, बहुत दुःख भोग रहे हो।

पहली बात: अपने-आपसे ऐसा कह कर दर्द पर ज़ोर मत दो कि: "ओह! कितने दर्द में हूँ मैं! ओह! यह व्यथा असहनीय है! ओह! यह दिन-पर-दिन और भी बुरी होती जा रही है, मैं कभी इसे सहन नहीं कर सकूँगा", आदि-आदि, इस प्रकार की सभी बातें। तुम इस प्रकार जितना अधिक सोचते हो और महसूस करते हो और जितना अधिक तुम्हारा ध्यान इस बात पर एकाग्र होता है, उतने ही अधिक विस्मयकारी ढंग से तुम्हारी व्यथा बढ़ती चली जाती है।

अतएव, पहली बात: अपने-आपको पर्याप्त रूप में संयमित करना, ताकि तुम ऐसा न करो।

दूसरी बात: जैसा कि मैंने कहा है, यह निर्भर करता है तुम्हारी आदतों पर। यदि तुम्हें पता है कि कैसे एकाग्र हुआ जाता है, शान्त-स्थिर रहा जाता है और यदि तुम अपने अन्दर किसी भी तरह की शान्ति ला सको, किसी भी तरह की—यह मानसिक शान्ति हो सकती है, यह प्राणिक शान्ति हो सकती है, यह चैत्य शान्ति हो सकती है; इनके अलग-अलग मूल्य और अलग-अलग गुण हैं, यह एक व्यक्तिगत प्रश्न है—तो तुम अपने अन्दर एक शान्ति की स्थिति पाने की कोशिश करो अथवा शान्ति की एक शक्ति के साथ सचेतन सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करो...। मान लो कि तुम्हें न्यूनाधिक पूर्ण सफलता मिल जाती है। फिर, यदि तुम उस शान्ति को अपने अन्दर खींच सको और उसे नीचे हृत्चक्र में उतार सको—क्योंकि

हम यहाँ आन्तरिक स्थितियों की चर्चा नहीं कर रहे बल्कि तुम्हारे भौतिक शरीर की चर्चा कर रहे हैं—और वहाँ से उसे बहुत शान्ति के साथ, मैं कह सकती हूँ, बहुत धीरे-धीरे, पर बहुत आग्रहपूर्वक, उस स्थान पर ले जा सको जहाँ पर दर्द कुछ ज़्यादा ही तेज़ है और उसे वहाँ स्थापित कर सको तो यह बहुत अच्छा है।

फिर भी यह सदा पर्याप्त नहीं होता।

परन्तु यदि तुम इस क्रिया को विस्तारित करके एक प्रकार की जीवन्त मानसिक रचना—बिलकुल ठण्डी नहीं, बल्कि थोड़ी जीवन्त—जोड़ सको कि एकमात्र सद्वस्तु है दिव्य सद्वस्तु, और इस शरीर के सभी कोषाणु इसी एक सद्वस्तु की न्यूनाधिक विकृत अभिव्यक्ति हैं—कि एकमात्र एक ही सद्वस्तु हैं, भगवान्, और हमारा शरीर इस एकमात्र सद्वस्तु की एक न्यूनाधिक विकृत अभिव्यक्ति है—यदि अपनी अभीप्सा, अपनी एकाग्रता के द्वारा, मैं शरीर के कोषाणुओं में इस एकमेव 'सद्वस्तु' की चेतना को भर दूँ तो समस्त विकार निश्चित रूप से समाप्त हो जायेंगे।

यदि तुम उसके साथ, भगवत्कृपा पर भरोसा रखते हुए पूर्ण समर्पण की क्रिया जोड़ सको तो, मुझे विश्वास है कि तुम्हारे कष्ट दूर होने में पाँच मिनट भी नहीं लगेंगे। यदि तुम्हें मालूम हो कि इसे कैसे किया जाता है।

हो सकता है कि तुम प्रयास करो और फिर भी सफल न होओ। परन्तु तुम्हें जानना होगा कि फिर से और बार-बार कैसे प्रयत्न किया जाता है, जब तक कि तुम सफल नहीं हो जाते। परन्तु तुम यदि एक ही साथ इन तीनों चीज़ों को करो तो, हाँ, ऐसा कोई दर्द नहीं जो उसके सामने टिक सके।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. २५७-५८

वही दवा लो जिसका फ़ैशन हो!

बहुत बार मैं एक उदाहरण दिया करती हूँ जिसे मैंने संयोगवश देखा था, विशेषकर खाद्य पदार्थों के गुण तथा शरीर पर उनके प्रभाव के विषय में, जैसे कुछ फलों या सब्ज़ियों के गुण-प्रभाव के विषय में : एक विशेष काल में डॉक्टरी विवरण में—अभी बहुत समय नहीं हुआ, लगभग पचास या साठ साल पहले—जब किसी को कोई बीमारी होती थी तो डॉक्टर उसे वस्तुओं की एक सूची देता था, उसको पूरी गम्भीरता के साथ सलाह

देता था कि इन चीज़ों में से वह किसी चीज़ को न छुए, नहीं तो वह और भी अधिक बीमार हो जायेगा—मैं तुम्हें वह सूची दे सकती हूँ, पर वह मनोरञ्जक नहीं है। फिर, ठीक उन्हीं चीज़ों के विषय में, पचास या साठ वर्ष बाद, वही डॉक्टर तो शायद नहीं पर दूसरा, उसी गम्भीरता के साथ, उसी असन्दिग्ध निश्चयता तथा अधिकार के साथ तुमसे कहेगा कि बस, इन्हीं चीज़ों को तुम्हें खाना होगा यदि तुम नीरोग होना चाहते हो! अतः, तुमने यदि वस्तुओं का भली-भाँति निरीक्षण किया है और तुम्हारे अन्दर थोड़ी-सी आलोचनात्मक भावना है, तुम अपने-आपसे कह सकते हो : "ओह! वह तो लोगों पर अथवा सम्भवतः उस युग पर निर्भर करता है।" और मैं वही कहूँगी जो मेरा परिचित डॉक्टर मित्र चालीस या पचास साल पहले फ़्रांस में अपने सभी रोगियों से कहा करता था : "वह औषधि लो जिसका आजकल फ़ैशन है, क्योंकि इस समय वह तुम्हें नीरोग कर देगी।" बस, यही बात है।

ख़ैर, थोड़े-से विवेक से युक्त एक स्थिति में, जिसमें मनुष्य वस्तुओं की इस असाधारण सापेक्षता को समझता है, उस स्थिति में जिसमें यह सापेक्षता इतनी तीव्र हो जाती है कि किसी बात को दावे के साथ कहना, यह कहना कि "यह चीज़ ऐसी है" अथवा "ऐसी चीज़ का अमुक परिणाम होता है", तुम्हें स्वाभाविक रूप से एक मूर्खता प्रतीत होता है...। परन्तु उस बिन्दु पर पहुँचने से पहले, मनुष्य थोड़ा-सा विचार-चिन्तन करके कह सकता है : आख़िरकार, हम किसी विशेष वस्तु पर तब तक विश्वास करते हैं जब तक कि वह फ़ैशन में है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ४३५

बीमारी से सीखा सबक

"बीमारी" से भी सबक सीखा जा सकता है—बीमारी के भ्रम से, ओह, यह बहुत, बहुत मज़ेदार विषय है। बहुत ही दिलचस्प। अपने-आपमें बीमारी, जैसी कि वह होती है, कि उसमें एक तरह की अव्यवस्था, गड़बड़ होती है, वह कोई भी गड़बड़ हो सकती है; और दूसरी चीज़ है, अनुभव करने और पकड़ लेने की वह पुरानी आदत—वह सामान्य आदत, जिसे लोग बीमारी कहते हैं : "मैं बीमार हूँ।" यह बहुत रुचिकर है। और अगर

तुम सचमुच चुपचाप-शान्त रहो (वास्तविक रूप से, और सचमुच पूरी तरह चुपचाप-शान्त रहना मुश्किल होता है—प्राण में और मन में यह बहुत आसान होता है, लेकिन शरीर के कोषाणुओं में, तामसिक हुए बिना, एकदम से शान्त और चुपचाप रहना मुश्किल ही होता है, इसे सीखना पड़ता है), लेकिन जब तुम पूरी तरह से निश्चल-नीरव हो जाते हो तो हमेशा एक प्रकाश उतर आता है—ऊष्माभरा, नन्हा-प्रकाश, जो होता है बहुत चमकदार और अद्‌भुत रूप से स्थिर, वह तुम्हारे पीछे उपस्थित रहता है, मानों तुमसे कह रहा हो, "तुम्हें बस इसकी चाह करनी होगी।" तब शरीर के कोषाणु बदहवास हो जाते हैं : "इच्छा, संकल्प? लेकिन भला कैसे?" शरीर कह उठता है, "कैसे कर सकता हूँ मैं? आख़िरकार यह एक गम्भीर बीमारी है"—वही सारा-का-सारा नाटक होता रहता है (मुझे यह अनुभव नींद में नहीं हुआ : मैं पूरी तरह से जगी हुई थी, यह आज सवेरे का अनुभव है), शरीर कहता है, यह "एक बीमारी" है। तब बुद्धि की कोई चीज़ फुसफुसाती है, "शान्त रहो, शान्त रहो, *(हँसी)* अपनी बीमारी से चिपटे न रहो! शान्त-अचञ्चल रहो। मानों तुम्हारे अन्दर बीमार पड़ने की इच्छा थी! शान्त रहो।" तो कोषाणु अपनी स्वीकृति देते हैं—"स्वीकृति", जानते हो, एक बच्चे की तरह, जो डाँट पड़ने के बाद कहे, "ठीक है, अच्छा, मैं कोशिश करूँगा।" वे कोशिश करते हैं—तुरन्त, वह प्रकाश फिर से उपस्थित हो जाता है। "तुम्हें बस इच्छा करनी होगी।" और एकाध बार, कभी एक तो कभी दूसरी चीज़ के लिए (क्योंकि अव्यवस्था एक सामान्य चीज़ है) तुम्हारे शरीर में यहाँ-वहाँ, कहीं भी, तकलीफ़ हो सकती है, तो अगर तुम प्रकाश के उस स्पन्दन को स्वीकार कर लो और तकलीफ़ के स्थान पर उसका प्रयोग करो, तो अगले ही पल वह ग़ायब हो जाती है, अगले ही पल तो नहीं, लेकिन कुछ समय के बाद ही वह सारी अस्त-व्यस्तता नदारद! तब कोषाणु याद करते हैं : "लेकिन, यह कैसी बात है? यहाँ मुझे दर्द हो रहा था..."—और लो, बण्टाढार! वह सब लौट आता है। और फिर से वही नाटक शुरू हो जाता है, यह चीज़ निरन्तर चलती रहती है। ...इसीलिए बीमारी से सबक सीखना बहुत ज़रूरी है।

एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से *१४ अक्तूबर १९६४*

अचञ्चलता की शक्ति

मेरे सारे शरीर और मांसपेशियों में सभी जगह दर्द हो रहा है, मानों मुझे कूटा गया हो!

हाँ, यही बात है, मेरे बच्चे। चिकित्सक कहेंगे कि यह जीवाणुओं, रोगाणुओं या 'वाइरस' के झुण्ड का आक्रमण है (भगवान् जाने और क्या-क्या), लेकिन वह प्राणिक विद्वेष था—प्राणिक दुर्भावना—लेकिन जिसके ऊपर भौतिक की इतनी पर्याप्त परत थी कि वह तुरन्त क्रिया कर बैठी *(श्रीमाँ ज़ोरदार प्रहार की मुद्रा दर्शाती हैं)* : वह तत्काल आ गया, जानते हो, ऐसी चीज़ों को पनपने की ज़रूरत नहीं होती! फ़ौरन, मानों किसी आग्नेय तलवार ने तुम्हारा पेट चीर दिया हो...!

यह चीज़ चली जायेगी।

एक बार जब ऐसी चीज़ मेरे साथ घटी तो मैंने उसका तात्कालिक प्रभाव एकदम रोक दिया (तात्कालिक प्रभाव... प्रायः विध्वंस था), मैंने 'अपने' तरीक़े से उसे पूरी तरह से रोक दिया: आन्तरिक निश्चलता को अपना कर सारी चीज़ 'प्रभु' के हाथों में सौंप दी। बहरहाल, अगले दिन मैं बीमार थी (अब भी मैं पूरी तरह ठीक नहीं हुई हूँ), मानों शरीर को पूरी तरह से झकझोर दिया गया था।...

मनुष्य को यह करना सीखना चाहिये। अगर तुम इसे अपने मस्तिष्क से करोगे तो यह निरर्थक होगा; असरदार यह तब होता है जब तुम एक तरह की शाश्वत अचञ्चलता को इकट्ठा कर इसे कर सको... तब इसका तुरन्त असर होता है। लेकिन सामान्यतया लोग इसे औरों पर करना जानते हैं, अपने ऊपर नहीं, क्योंकि अपने-आप वे स्पन्दित होते रहते हैं—जब तुम्हें कहीं बहुत दर्द हो रहा हो तो उससे उठ रहे कम्पनों को सम्भालना बहुत मुश्किल हो जाता है। लेकिन इसे किया जा सकता है; तब भी जब बहुत तेज़ दर्द हो, प्रायः असहनीय (सामान्यतः तब व्यक्ति चीखना-चिल्लाना शुरू कर देता है) लेकिन, व्यक्ति इसे कर सकता है, व्यक्ति उस दर्दनाक स्थल पर अपने अन्दर की वह सारी नीरव अचञ्चलता को इकट्ठा कर उस पर क्रिया कर सकता है—शाश्वतता की अचञ्चलता। बहुत, बहुत ही तेज़ी से, कुछ पलों में, वह तीव्रता ग़ायब हो जाती है; बस एक याद बची रहती है,

और उसके बाद उसे उस याद को फिर से न जगाने की सावधानी बरतनी होगी, लेकिन वह शरीर में उस याद का धागा छोड़ जाती है, वैसे तो तुम अपने शरीर को एक अच्छा-ख़ासा **अहानिकर** मुक्का जमा देते हो, भयंकर पीड़ा एकदम ख़तम हो जाती है, लेकिन निशान तो बन ही जाता है। वह काफ़ी समय तक बना रहता है। अगर तुम कुछ किये बिना, कुछ सोचे बिना, कुछ चाहे बिना, काफ़ी समय तक बहुत, बहुत ही शान्त और अचञ्चल रह सको तो मेरे ख़याल से उस चीज़ का बहुत कम असर होगा।

एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से *२६ अक्तूबर १९६३*

सामूहिक सुझाव

तीन चीज़ों के लिए व्यक्ति को चौकन्ना रहना चाहिये। एक है, "बीमारी" का सामूहिक सुझाव—"बीमारी" एक ऐसी चीज़ है जिसका निस्सन्देह अस्तित्व है, इस अर्थ में कि स्पष्ट रूप में ऐसी विरोधी शक्तियाँ कार्यरत हैं जो काम में अफ़रा-तफ़री मचाने, काम को धीमा करने की कोशिश करती रहती हैं; लेकिन, जहाँ तक व्यक्तिगत प्रश्न है, वे तथाकथित बीमारियाँ... बाहरी रूप से वे इस विचार पर आधारित होती हैं (वे इसे "ज्ञान" कहते हैं), वे रोगाणुओं, कीटाणुओं इत्यादि के ज्ञान पर आधारित होती हैं, लेकिन यह चीज़ को उलटा पकड़ने-जैसी बात हो गयी—एड़ी से पकड़ कर सिर को नीचे लटका देना, क्योंकि ये रोगाणु या कीटाणु ऐसी चीज़ें हैं जो बीमारी के **प्रभाव** होते हैं, कारण नहीं।

यह तीन चीज़ों का सम्मिलित प्रभाव होता है : दुर्भावना (अपने ख़राब से ख़राब रूप में, सच्ची क्रिया का अनुसरण करने से इन्कार करना), कहीं कम तो कहीं अधिक, पूरी-पूरी बुरी भावना; दूसरी है, नियमों और उनके परिणामों, यानी, उनके कारणों और प्रभावों के बारे में पूरा-पूरा अज्ञान; और निस्सन्देह तीसरी चीज़ है, एक तरह की तामसिकता—वैसे ये सभी तामसिकता के ही रूप हैं, लेकिन तामसिकता का सबसे बड़ा रूप है—भागवत कृपा को ग्रहण करने और उसका प्रत्युत्तर देने की अक्षमता। ये तीनों चीज़ें मिल कर रोगों और उससे जुड़ी चीज़ों की रचना करती हैं, जिसका अन्तिम प्रभाव होता है—मृत्यु। यानी, सामञ्जस्य का बिखराव।...

जहाँ समग्र के सम्बन्ध की बात है वहाँ तीन चीज़ें हैं... हम इन्हें

अपनी "रक्षा के साधन" या वे मनोवृत्तियाँ कह सकते हैं जिन्हें हम अपना सकते हैं। एकदम से अलग-थलग रहने की मनोवृत्ति, जो तब तक पूरी तरह नहीं अपनायी जा सकती है जब तक कि हम लोगों के सम्पर्क से एकदम पूरी तरह नहीं हट जाते... मुश्किल है यह। दूसरी है प्रहार की मनोवृत्ति : विरोधी शक्तियों से युद्ध करने और उन्हें दूर हटाने का मनोभाव (इसमें एक बड़ी त्रुटि यह है कि अगर तुम उन्हीं के स्तर पर उनसे लड़ो, अपनी शक्तियों का प्रयोग करो तो उन पर असर नहीं पड़ता; या अनुपात में, बहुत ही कम असर पड़ता है; और अगर परम शक्तियाँ उतर आयें, तब... असर महाविपत्तिजनक होता है, इसका अर्थ है; जीतने के लिए सब कुछ नष्टकर देना, निश्चित रूप से 'परम प्रभु' का ऐसा विचार कतई नहीं है)। और अन्त में है, उच्चतर 'शक्ति' का संसर्ग प्राप्त हो जाये... सचमुच हमें यही मनोवृत्ति अपनानी चाहिये। लेकिन इसमें भी समय लगता है, बहुत, बहुत समय।

उच्चतर 'शक्ति' का हस्तक्षेप निश्चित है, तब कम-से-कम क्षति पहुँचेगी, लेकिन वह कम-से-कम भी बहुत होगी।

एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से *२ मार्च १९६८*

शरीर की स्वतन्त्रता—एक नयी सम्भावना

अतिमानसिक अभिव्यक्ति के सबसे पहले परिणामों में से एक था—शरीर को ऐसी स्वतन्त्रता दे देना जिसे उसने पहले कभी नहीं जाना था। और जब मैं कहती हूँ स्वतन्त्रता, तो उससे मेरा मतलब किसी मनोवैज्ञानिक अन्तर्दर्शन या चेतना की किसी अवस्था से नहीं, बल्कि किसी दूसरी ही और कहीं, कहीं अधिक अच्छी चीज़ से है—यह शरीर की, शरीर के कोषाणुओं की एक नयी ही चीज़ है।

पहली बार, स्वयं कोषाणुओं ने यह अनुभव किया कि वे स्वतन्त्र हैं, कि स्वयं उनके अन्दर निर्णय लेने की शक्ति है। जब नये स्पन्दन आये और पुरानों के साथ मिल गये तो मुझे तत्काल यह अनुभव हुआ और इसने मुझे यह दिखला दिया कि एक नया जगत् सचमुच जन्म लेने जा रहा है।

अपनी सामान्य अवस्था में, शरीर का हमेशा यह अनुभव रहा है कि वह अपना स्वामी आप नहीं है : बीमारियाँ उस पर धावा बोल देती हैं और

वह सचमुच उनका प्रतिरोध ही नहीं कर पाता—हज़ारों चीज़ें स्वयं को उस पर थोप देती या उस पर दबाव डालती हैं। उसके अन्दर एकमात्र शक्ति है, अपना बचाव करना, प्रतिक्रिया करना। एक बार शरीर में बीमारी घुसने के बाद शरीर उससे लड़ कर उस पर विजय पा सकता है—आधुनिक दवाइयों तक ने इस बात की पुष्टि की है कि शरीर तभी रोगमुक्त होता है जब वह स्वस्थ होना चाहे; दवाइयाँ उसे नीरोग नहीं करतीं, क्योंकि शरीर के संकल्प के बिना, दवाई से अगर बीमारी को कुछ समय के लिए दबा भी दिया जाये, वह किसी दूसरे रूप में, शरीर के किसी अन्य स्थान पर उभर आती है जब तक कि स्वयं शरीर रोगमुक्त होने का निश्चय न कर ले। लेकिन यह प्रतिरक्षात्मक शक्ति है, वह शक्ति जो किसी आक्रमणकारी शत्रु के विरोध में प्रतिक्रिया करती है—यह सच्ची स्वतन्त्रता नहीं है।

लेकिन अतिमानसिक अभिव्यक्ति के साथ शरीर में किसी नयी चीज़ ने प्रवेश कर लिया है : उसे अनुभव हो रहा है कि वह अपना स्वामी आप है, स्वाधीन, जो अपने दोनों पैरों पर धरती के ऊपर मज़बूती से खड़ा है। यह चीज़ एक ऐसा भौतिक आभास दे रही है मानों सारी सत्ता उन्नत मस्तक, अचानक एकदम से तन कर खड़ी हो गयी—मैं अपने-आपकी स्वामिनी हूँ।

हम बारह मास अपने कन्धों पर ऐसा भार ढोये-ढोये फिरते हैं कि हमारे सिर धरती की ओर झुक जाते हैं और हम नीचे खिंचे-से चले जाते हैं, हर तरह की बाहरी शक्तियों से चलाये गये हम, यह भी नहीं जानते कि हमें कौन खींच रहा है, कहाँ ले जा रहा है, हमें तो बस कोई हाँके लिये जाता है—और इसे ही मनुष्य कहते हैं, 'भाग्य' या 'नियति'।

जब तुम योग करते हो तो पहली अनुभूतियों में से एक होती है, कुण्डलिनी की अनुभूति—इसमें चेतना ऊपर उठती जाती है, सिर के शिखर के कठोर 'ढक्कन' को तोड़ देती है और तुम 'प्रकाश' में निकल आते हो। तब तुम देखते हो, तुम जानते हो, तुम निश्चय करते हो और तुम उपलब्धि प्राप्त करते हो—तब भी कठिनाइयाँ बनी रह सकती हैं, लेकिन सचमुच तुम उनसे ऊपर उठ जाते हो। हाँ तो, अतिमानसिक अभिव्यक्ति के परिणाम-स्वरूप, यह अनुभूति शरीर में उतरी। शरीर ने अपना सिर उन्नत कर लिया और अपनी स्वतन्त्रता, अपने स्वावलम्बन का अनुभव किया।

उदाहरण के लिए, 'फ़्लू' की महामारी के समय, मैंने हर रोज़ उन

लोगों के साथ बिताया जो उन कीटाणुओं के वाहक थे। और एक दिन, मैंने यह स्पष्ट अनुभव किया कि शरीर ने निश्चय कर लिया है कि वह इस 'फ़्लू' की चपेट में नहीं आयेगा। शरीर ने अपनी स्वतन्त्रता का दावा कर दिया। समझ रहे हो, यह उच्चतर 'संकल्प' के निश्चय का प्रश्न नहीं था, नहीं। यह चीज़ उच्चतर चेतना में नहीं घटी: स्वयं शरीर ने निश्चय किया। जब तुम अपनी चेतना में बहुत ऊपर उठे हुए होते हो, तुम चीज़ें देखते हो, तुम चीज़ें जानते हो; लेकिन सामान्य वास्तविकता में, दोबारा जड़-भौतिक में उतर आने पर तो ऐसा लगता है मानों कुछ ठहर नहीं रहा, रेत से पानी निकला चला जा रहा है। इस तरह चीज़ें बदल गयी हैं, किसी भी बाहरी हस्तक्षेप से स्वतन्त्र, शरीर की अपनी शक्ति है। भले वह न के बराबर दीखती हो, लेकिन मैं इसे बहुत महत्त्वपूर्ण परिणाम मानती हूँ।

और शरीर के इस नये स्पन्दन ने मुझे रूपान्तर की पद्धति को समझने में मदद दी। यह किसी उच्चतर 'संकल्प', किसी उच्चतर चेतना से आयी कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो अपने-आपको शरीर पर आरोपित कर रही हो; यह तो स्वयं शरीर अपने कोषाणुओं में प्रबुद्ध हो रहा है, स्वयं कोषाणु स्वतन्त्र हो रहे हैं, एकदम से एक नया स्पन्दन जो अव्यवस्था को व्यवस्था में बदल देता है—अतिमानसिक अभिव्यक्ति के पहले की अव्यवस्थाओं को भी।

स्वाभाविक रूप से, यह एक क्रमिक प्रक्रिया है, लेकिन मुझे आशा है कि धीरे-धीरे करके यह नयी चेतना विकसित होगी, फैलेगी और विध्वंस तथा विनाश की उन पुरानी शक्तियों और इस 'भाग्याधीनता' का विजयी रूप से प्रतिरोध करेगी जिसे हम अटल समझ बैठे हैं।

एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से *१७ अक्तूबर १९५७*

... तू ही हमारी सत्ता की यथार्थता, एकमात्र 'सद्वस्तु' है।

तेरे बिना सब कुछ मिथ्या और भ्रम है, सब कुछ दुःखपूर्ण अन्धकार है।

तेरे अन्दर ही है जीवन, ज्योति और आनन्द।

तेरे ही अन्दर है परम शान्ति।

—श्रीमाँ

श्रीअरविन्द के वचन

सुझाव की शक्ति

बीमारी का अनुभव पहले-पहल केवल एक सुझाव होता है; वह वास्तविकता इसलिए बन जाता है क्योंकि तुम्हारी चेतना उसे स्वीकार कर लेती है। यह मन में ग़लत सुझाव की तरह होता है; अगर मन इसे मान ले तो वह धूमिल पड़ जाता और चकरा जाता है और उसे वापस सामञ्जस्य और उजाले में आने के लिए परिश्रम करना पड़ता है। शारीरिक चेतना और बीमारी के बारे में यही बात होती है। तुम्हें बीमारी को कभी स्वीकार नहीं करना चाहिये बल्कि अपने भौतिक मन से इसका बहिष्कार कर देना चाहिये ताकि उस सुझाव को परे फेंक कर तुम शारीरिक चेतना की मदद कर सको। अगर आवश्यकता हो तो प्रतिकारक सुझाव दो, "नहीं, मैं भला-चंगा रहूँगा; मैं ठीक हूँ और एकदम ठीक रहूँगा।" और हर हालत में, श्रीमाँ की शक्ति को पुकारो कि वह इस सुझाव को दूर फेंक दे जो बीमारी ला रही है।

*

बीमारी के सुझाव से मेरा मतलब केवल विचारों और शब्दों से नहीं है। जब कोई सम्मोहक कहता है, "सो जाओ", तो वह एक सुझाव होता है; जब वह कुछ नहीं कहता बल्कि नींद के लिए केवल अपनी नीरव इच्छा का प्रयोग करता है या तुम्हारे चेहरे पर अपने हाथों को घुमाता है, तो वह भी एक सुझाव होता है।

जब किसी शक्ति या बीमारी का कोई स्पन्दन तुम पर फेंका जाता है तो वह शरीर को सुझाव देता है। शरीर में कुछ स्पन्दनों के साथ एक लहर-सी उठती है और शरीर याद करता है "ज़ुकाम" या वह सर्दी-ज़ुकाम के स्पन्दन महसूस करता है और खाँसने, छींकने या ठण्ड की सिहरनें महसूस करने लगता है—और मन में सुझाव इस रूप में आ जाता है, "मैं कमज़ोर हूँ, तबीअत ठीक नहीं लग रही, मुझे ज़ुकाम ने पकड़ लिया है।"

*

डेंगू या इंफ़्लुएंज़ा पकड़ने का एक सामान्य सुझाव हवा में उड़ रहा है। यही सुझाव विरोधी शक्तियों को इसके लक्षणों को लाने और इस तरह की शिकायतों को फैलाने में समर्थ बनाता है। अगर व्यक्ति सुझावों और लक्षणों, दोनों को अस्वीकार कर दे तो ये चीज़ें भौतिक रूप नहीं लेंगी।

*

इस तरह से बीमारी एक से दूसरे व्यक्ति में जाने की कोशिश करती है—वे इस या उस सुझाव के द्वारा स्नायविक सत्ता पर प्रहार करके व्यक्ति के अन्दर आना चाहती हैं। जब रोग संक्रामक नहीं भी होता, फिर भी ऐसा होता है, हाँ, संक्रामक रोगों में अधिक आसानी से यह होता है। बीमारी के सुझाव को एकदम से निकाल फेंकना चाहिये। हमारे शरीर के चारों तरफ़ एक तरह की सुरक्षा होती है जिसे स्नायविक आवरण कहते हैं—अगर यह मज़बूत रहे और बीमारी की शक्ति के प्रवेश को निषिद्ध कर दे तो व्यक्ति प्लेग या किसी भी महामारी के बीच भी स्वस्थ रह सकता है—अगर आवरण में छेद हो जाये या वह कमज़ोर हो जाये तो बीमारी अन्दर आ सकती है।

जिस पर तुमने प्रहार का अनुभव किया वह सचमुच तुम्हारा भौतिक शरीर नहीं, बल्कि यह स्नायविक आवरण और प्राणकोष था।

*

ये आत्म-सुझाव (पुनः नीरोग हो जाने के सुझाव) वास्तव में वह श्रद्धा है जो मानसिक रूप ले लेती है, और यह अवचेतन तथा अचेतन दोनों पर काम करती है। अवचेतन में ये सुझाव आन्तरिक सत्ता की शक्तियों को, उसकी गुह्य शक्ति को क्रियान्वित कर देते हैं, तब वे विचार इच्छा या सरल सचेतन शक्ति द्वारा शरीर पर प्रभाव डालते हैं—अचेतन में ये मृत्यु और बीमारी के सुझावों को रोक देते हैं। ये आत्म-सुझाव मन, प्राण तथा शारीरिक चेतना में भी व्यक्ति की सहायता करते हैं कि वह विरोधी सुझावों के साथ लड़ कर, पुनः स्वास्थ्य-लाभ कर ले। जहाँ यह पूरी तरह से या न्यूनाधिक पूर्ण रूप से किया जाता है वहाँ इसके प्रभाव असाधारण हो सकते हैं। CWSA खण्ड ३१, पृ. ५५५-५५९

आध्यात्मिक तथा भागवत शक्ति द्वारा नीरोग होना

अपने शरीर में हमारी 'शक्ति' के प्रति खुले रहने की कोशिश करो—यही है मुख्य बात। अगर स्नायुएँ (भौतिक) शान्त हों तो अपने-आपमें ही बीमारी के लक्षण कम तीव्र होंगे और तब उससे पार पाना कहीं अधिक आसान भी हो जायेगा।

रही बात 'शक्ति' के द्वारा तुम्हें नीरोग करने की, तो उसमें स्वयं तुम्हारी प्राणिक गतियाँ मुख्य बाधा बन जाती हैं। लोगों की यह आदत होती है कि वे अपने ही विचारों, दावों, पसन्दों पर अहंकारमय आग्रह करते हैं, उन्हें लगता है कि उनके आस-पास के लोगों की दुष्टताएँ, शिकायतें, लड़ाइयाँ, विवाद, विद्वेष इत्यादि उन्हें घेरे रहते हैं और उनके विरोध में वे अपनी धर्मपरायणता को सही मानते हैं—इन सब चीज़ों का व्यक्ति के यकृत, पेट और स्नायुओं पर असर पड़ता है। अगर तुम इन सब चीज़ों को छोड़ दो और चुपचाप अपने अन्दर रहो, दूसरों के साथ शान्ति बनाये रखो, अपने और दूसरों के बारे में कम सोचो, 'भगवान्' में तल्लीन रहो तो चीज़ें कहीं ज़्यादा आसान हो जायेंगी और तुम पुनः स्वस्थ हो जाओगे। बीमारी का सामना करने के लिए मन की शान्ति भी बहुत ज़रूरी होती है—विक्षोभ 'शक्ति' को क्रिया करने से रोक देता है।

*

निश्चित रूप से किसी बीमारी पर अन्दर से काम करके व्यक्ति उसे ठीक कर सकता है। केवल ऐसा करना हमेशा आसान नहीं होता, क्योंकि 'जड़-भौतिक' में बहुत प्रतिरोध, तमस् का बहुत प्रतिरोध होता है। इसके लिए अथक आग्रह की आवश्यकता होती है; हो सकता है कि पहले-पहल व्यक्ति एकदम असफल रहे या बीमारी के लक्षण बढ़ जायें, लेकिन धीरे-धीरे शरीर और बीमारी पर उसकी पकड़ मज़बूत होने लगती है। वैसे आन्तरिक उपाय के द्वारा किसी बीमारी के कभी-कदास के आक्रमण पर विजय पाना अपेक्षया आसान होता है, भविष्य में उससे पूरी तरह छुटकारा पा लेना कहीं अधिक कठिन चीज़ है। शरीर में कभी-कभी उठी तकलीफ़ की अपेक्षा किसी पुरानी बीमारी के साथ जूझना कहीं अधिक मुश्किल होता है, क्योंकि वह पूरी तरह से हटने में बड़ी अनिच्छुक होती है। जब

तक शरीर पर तुम्हारा संयम अपूर्ण होता है तब तक शरीर में ये बीमारियाँ और दूसरी अपूर्णताएँ सिर उठाती ही रहेंगी और आन्तरिक शक्ति का प्रयोग करने में तुम्हें कठिनाइयों का सामना करते रहना पड़ेगा।

अगर आन्तरिक क्रिया द्वारा तुम बीमारी को रोकने में सफल हो सको तो यह भी अपने-आपमें बड़ी बात है; उसके बाद अभ्यास द्वारा तुम्हें बस अपनी इच्छा-शक्ति को मज़बूत बनाना होगा जब तक कि शरीर उसे ठीक करने में समर्थ नहीं हो जाता। ध्यान रखो कि जब तक शक्ति पूरी तरह से कार्यरत नहीं होती तब तक व्यक्ति को भौतिक सहारे यानी, दवाई इत्यादि लेने से पूरी तरह इन्कार नहीं करना चाहिये।

CWSA खण्ड ३१, पृ. ५७९-८०

बीमारी है, भौतिक प्रकृति में किसी अपूर्णता, दुर्बलता या विरोधी स्पर्शों के प्रति उद्घाटन का चिह्न, और बीमारी प्रायः निम्न प्राण या भौतिक मन या किसी और स्थान के असामञ्जस्य या अन्धकार से सम्बन्ध रखती है।

अगर कोई श्रद्धा और यौगिक शक्ति अथवा 'भागवत शक्ति' की बाढ़ द्वारा पूरी तरह से बीमारी से पिण्ड छुड़ा सके तो यह बहुत ही अच्छी बात है। लेकिन बहुधा ऐसा करना सम्भव ही नहीं होता, क्योंकि पूरी प्रकृति 'शक्ति' के प्रति न खुली होती है न उसे प्रत्युत्तर देने में समर्थ ही होती है। मन के अन्दर श्रद्धा हो सकती है, वह प्रत्युत्तर भी दे सकता है, लेकिन हो सकता है कि निम्न प्राण और शरीर उसका अनुसरण न करें। या अगर मन और प्राण तैयार भी हों, हो सकता है कि शरीर साथ न दे या आंशिक रूप से साथ दे, क्योंकि उसके अन्दर ऐसी शक्तियों को प्रत्युत्तर देने की आदत होती है जो अमुक बीमारी पैदा करती हैं और प्रकृति के भौतिक हिस्से में यह आदत बहुत हठीली होती है। ऐसे मामलों में दवाई इत्यादि भौतिक साधनों का सहारा लिया जा सकता है—लेकिन इनका उपयोग साधन के रूप में नहीं बल्कि 'शक्ति' की क्रिया को सहारा देने के लिए एक सहायता के रूप में करना चाहिये। उग्र तथा तीव्र दवाओं का नहीं बल्कि उनका उपयोग करना चाहिये जो शरीर को उत्तेजित किये बिना उसके लिए लाभकारी हों।

CWSA खण्ड ३१, पृ. ५७९-८०

इंफ़्लुएंज़ा

सारे समय एक पूर्ण समता को बनाये रखना ही इसमें करने-लायक सबसे पहली चीज़ है और साथ ही तुम्हें अपने अन्दर विक्षुब्ध चिन्ता या उदासी के विचारों को आने की अनुमति भी नहीं देनी चाहिये। यह एकदम स्वाभाविक है कि इंफ़्लुएंज़ा के इतने भयंकर आक्रमण के बाद कमज़ोरी आ जाये और ठीक होते-होते तुम्हें कई उतार-चढ़ावों से गुज़रना पड़े। तुम्हें करना यह है कि अचञ्चल और विश्वस्त बने रहो और न चिन्ता करो, न ही अशान्त रहो—एकदम शान्त रहो और जितने दिनों तक आराम की ज़रूरत हो उतने समय तक आराम करने के लिए तैयार रहो। परेशान या चिन्तित होने की कोई बात नहीं है; आराम करो, और स्वास्थ्य तथा ऊर्जा लौट आयेंगे।

CWSA खण्ड ३१, पृ. ५८७ **श्रीअरविन्द**

सामूहिक प्रार्थना का प्रभाव

ऐसे व्यक्तियों की समष्टि भी होती है जो एक आदर्श या एक शिक्षा या कार्य की चरितार्थता के लिए जमा होते हैं, इनका आपस में व्यवस्थित सम्बन्ध, एक ही लक्ष्य का सम्बन्ध, एक ही श्रद्धा और संकल्प का सम्बन्ध होता है। ये सामूहिक प्रार्थना और ध्यान के अनुष्ठान के लिए विधिवत् जमा हो सकते हैं, यदि उनका लक्ष्य उदात्त है, संगठन सुचारु ढंग से हुआ है, उनका आदर्श प्रबल है, तो यह समष्टि अपनी प्रार्थनाओं या अपने ध्यान द्वारा दुनिया की घटनाओं पर, अपने आन्तरिक विकास पर और अपनी सामूहिक प्रगति पर यथेष्ट प्रभाव डाल सकती है।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ४०१

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

मई

१. अपने जीवन को अपने-आपसे कुछ उच्चतर और विशालतर वस्तु को चरितार्थ करने पर एकाग्र करो तो तुम्हें बीतते हुए वर्षों का भार कभी न लगेगा।

२. अगर तुम नहीं चाहते कि तुम्हारा शरीर धोखा दे तो व्यर्थ की उत्तेजना में अपनी शक्ति नष्ट करने से बचो। तुम जो भी करो शान्त, स्थिर और प्रकृतिस्थ होकर करो। शान्ति और नीरवता में अधिकतम शक्ति है।

३. सुखी और सार्थक जीवन के लिए आवश्यक तत्त्व हैं निष्कपटता, विनय, अध्यवसाय और प्रगति के लिए कभी न बुझने वाली प्यास। और सबसे बढ़ कर तुम्हें प्रगति की असीम सम्भावना के बारे में विश्वास होना चाहिये। प्रगति ही यौवन है। सौ वर्ष की अवस्था में भी तुम युवक हो सकते हो।

४. अगर चेतना के विकास को जीवन का मुख्य लक्ष्य मान लिया जाये तो बहुत-सी कठिनाइयों का समाधान मिल जायेगा।

५. व्यक्ति को हमेशा केवल बौद्धिक ढंग से ही नहीं, मनोवैज्ञानिक ढंग से भी सीखते रहना चाहिये, उसे चरित्र की दृष्टि से प्रगति करनी चाहिये, अपने अन्दर गुण उपजाने और दोष ठीक करने चाहियें, हर चीज़ को अपने अज्ञान और अक्षमता को दूर करने का अवसर बनाना चाहिये; तब जीवन बहुत अधिक रुचिकर और जीने का कष्ट उठाने-योग्य बन जाता है।

६. सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण शर्त है विश्वास, एक बालक का-सा विश्वास और यह सरल भाव कि ज़रूरी चीज़ आ जायेगी, इसके बारे में कोई प्रश्न ही नहीं। जब बच्चे को किसी चीज़ की ज़रूरत होती है तो उसे विश्वास होता है कि वह आ जायेगी। इस प्रकार का सरल विश्वास या निर्भरता सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण शर्त है।

७. युवा होने का अर्थ है, कभी यह न स्वीकार करना कि कोई चीज़

सुधारी नहीं जा सकती।

८. हमारा हर रोज़ और हर समय का प्रयास यही हो कि हम 'तुझे' ज़्यादा अच्छी तरह जान सकें और 'तेरी' सेवा ज़्यादा अच्छी तरह कर सकें।

९. मधुर माँ, वर दे कि इस क्षण और सदा ही हम तेरे सरल बालक बने रहें, और हमेशा तुझसे अधिकाधिक प्यार करते रहें।

१०. प्रश्न—मधुर माँ, क्या जब कभी मैं आपको बुलाता हूँ तो आप सुन सकती हैं?

उत्तर—विश्वास रखो कि तुम जब कभी मुझे बुलाते हो, मैं सुनती हूँ और मेरी सहायता और मेरी शक्ति सीधी तुम्हारी ओर जाती हैं। मेरे आशीर्वाद सहित।

११. हमेशा अपनी पूर्णतम और सत्यतम पूर्णता को चरितार्थ करने की अभीप्सा में रहो।

१२. सच्ची बुद्धिमत्ता है किसी भी स्रोत से आने वाले ज्ञान को सीखने के लिए तैयार रहना। हम फूल से, पशु से, एक बच्चे से चीज़ें सीख सकते हैं बशर्ते कि हम हमेशा अधिक जानने के लिए उत्सुक हों क्योंकि संसार में केवल **एक** ही 'शिक्षक' हैं—परम प्रभु, और वे हर चीज़ में से अभिव्यक्त होते हैं।

१३. पढ़ाई मन को मज़बूत बनाती है और उसकी एकाग्रता को प्राण के आवेगों और कामनाओं से हटाती है। मन और प्राण पर क़ाबू पाने के तरीक़ों में से पढ़ाई-लिखाई पर एकाग्र होना एक बहुत शक्तिशाली तरीक़ा है; इसीलिए पढ़ना-लिखना इतना ज़रूरी है।

१४. प्रगति करने के लिए तुम्हें अध्यवसाय के साथ काम करना चाहिये।

१५. स्पष्ट समझ, अन्तर्दर्शन और उचित क्रिया के लिए एक बहुत-बहुत स्थिर, शान्त मस्तिष्क अनिवार्य है।

१६. काम में पूर्णता ही तुम्हारा लक्ष्य होना चाहिये। लेकिन यह बड़े धीरज के साथ प्रयास करने से ही प्राप्त हो सकती है।

अपने-आपको भगवान् की शक्ति के प्रति अधिकाधिक खोलो, तुम्हारा कार्य पूर्णता की ओर निरन्तर प्रगति करता रहेगा।

१७. ... कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनके विचार प्रेममय होते हैं, जो प्रेम को विकीरित करते, फैलाते हैं। ऐसे लोगों की उपस्थिति-मात्र ही

सबसे अधिक सक्रिय और वास्तविक उदारता है।

१८. प्रश्न—मैं जानता हूँ, मेरे अन्दर बहुत-सी ग़लत चीज़ें हैं, लेकिन कोई विशेष आधारभूत गड़बड़ भी होनी चाहिये। माँ, वह क्या है?

उत्तर—तुम्हारे लिए कोई विशेष बात नहीं है। एक ही कठिनाई सभी मनुष्यों में मौजूद है—भौतिक मन का घमण्ड और उसका अन्धापन।

१९. ... दूसरे जो कुछ करते हैं और वे जो भूलें करते हैं उनके विषय में व्यस्त नहीं होना चाहिये, बल्कि अपने निजी दोषों और लापरवाहियों को देखना चाहिये और उन्हें सुधारना चाहिये।

२०. सत्ता का सन्तुलन नियमित कार्य पर आधारित होता है।

२१. प्रश्न—आपके आशीर्वाद से मेरा रोग आंशिक रूप से ठीक हो जाता है, लेकिन चला नहीं जाता।

उत्तर—यह तुम्हारे शरीर की ग्रहणशीलता का यथार्थ परिमाण बताता है। रोगग्रस्त अंगों पर शक्ति को एकाग्र करो और उनमें सुधार होगा।

२२. महत्त्वपूर्ण चीज़ यह है कि हम जिस आदर्श को चरितार्थ करना चाहते हैं उसे कभी आँख से ओझल न होने दें और इस लक्ष्य को नज़र में रखते हुए सभी परिस्थितियों का उपयोग करें।

२३. चीज़ों के पक्ष या विपक्ष में मनमाना फ़ैसला न करना हमेशा अच्छा होता है, और साक्षी की निष्पक्षता के साथ घटनाओं को खिलते देखना, 'भागवत प्रज्ञा' पर निर्भर रहना ज़्यादा अच्छा रहता है जो सबसे अच्छे के लिए निर्णय करेगी और जो आवश्यक होगा वही करेगी।

२४. साहसपूर्ण और सीधी स्पष्टवादिता हमेशा कठिनाइयों का सामना करने का सबसे अच्छा उपाय होती है।

२५. हर एक को अपना काम ईमानदारी से और मन लगा कर करना चाहिये, और सभी अन्धकारमयी, स्वार्थपूर्ण गतिविधियों पर विजय पानी चाहिये।

२६. धन मनुष्य को सुखी नहीं बनाता, बल्कि आन्तरिक ऊर्जा का सन्तुलन, अच्छा स्वास्थ्य और अच्छे भाव सुखी बनाते हैं।

२७. हर एक को प्रगति करनी है और अधिक सच्चा तथा निष्कपट बनना है।

२८. तुम्हें जो चीज़ जाननी चाहिये वह है, ठीक तरह से यह जानना कि

तुम जीवन में क्या करना चाहते हो। इसे सीखने में जो समय लगता है उसकी परवाह मत करो, क्योंकि जो लोग 'सत्य' के अनुसार जीना चाहते हैं, उनके लिए हमेशा कुछ सीखने के लिए, कुछ प्रगति करने के लिए होता ही है।

२९. वस्तुतः, समस्त जीवन प्रेम है, यदि तुम उसे जीना जानो।

३०. तुम्हें कठिनाइयों के बीच भी स्थिर और अचञ्चल रहना सीखना चाहिये। सभी बाधाओं पर विजय पाने का यही तरीक़ा है।

३१. सर्वाधिक आदर-सम्मान नीरवता में है।

एक शिष्या के नाम पत्र

(एक फ़्रेंच महिला के नाम जो ६६ वर्ष की उम्र में १९३७ और १९४१ के बीच आश्रम में रही थीं।

यह शिष्या सितम्बर १९३७ के अन्त में फ़्रांस चली गयीं और १९३८ के मार्च में फिर आश्रम आ गयीं और १९४१ तक रहीं।)

डरो मत; मैं आभासों के परे देख सकती हूँ और नीरवता में या शब्दों के परे समझ सकती हूँ।

मेरी भुजाएँ तुम्हें सहारा देने और मार्ग दिखाने के लिए हमेशा तुम्हारे चारों ओर रहेंगी।

निश्चय ही तुम मेरी प्रिय बालिका हो, लेकिन मैं चाहती हूँ कि वह प्रसन्न रहे, दुःखी नहीं; आलोकित रहे, अज्ञानी नहीं।

मेरे आशीर्वाद बहुत अधिक प्रेमपूर्वक तुम्हारे साथ हैं।

१३ जून १९३८

चूँकि मैंने तुम्हें प्रणाम के समय नहीं देखा, अतः मैं यह पूछने के लिए तुम्हें लिखने ही वाली थी कि कल के पत्र में तुमने जिस थकान का उल्लेख किया था वही तो इसका कारण नहीं है। और अभी-अभी मुझे तुम्हारा आज सवेरे का पत्र मिला। कैसी बुरी बात है कि तुम्हें बुख़ार आ गया! लेकिन क्यों? कोई कारण तो नहीं दिखायी देता? मैं आशा करती हूँ कि

यह जल्दी ही समाप्त हो जायेगा।

यह कहने की ज़रूरत नहीं है कि हमारी सहायता, हमारी शक्ति, हमारा संरक्षण और हमारे आशीर्वाद सदा तुम्हारे साथ रहते हैं। तुम्हें अपने-आपको उनके अन्दर उसी तरह निमज्जित करना चाहिये जैसे शान्त करने वाले, स्वस्थ करने वाले स्नान-कुण्ड में किया जाता है। मैं अपना स्नेह भी उनके साथ जोड़ती चलूँ। १७ जुलाई १९३८

मेरे लिए तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देना कठिन है क्योंकि मुझे 'यूट्रोपीन' या उसके प्रभाव का कोई व्यक्तिगत अनुभव नहीं है। लेकिन एक साधारण नियम के रूप में मुझे ऐसा लगता है कि जब तुम डॉक्टर के पास जाओ तो तुम्हें उसके कहे अनुसार करना चाहिये। वृक्क-शोथ के रोगियों में यह दवाई वर्जित है। तुम्हें डॉक्टर से यह आश्वासन माँगना चाहिये कि तुम्हें वृक्क-शोथ नहीं है जो लगता तो नहीं कि होगा।

हमारी सहायता और आशीर्वाद हमेशा सस्नेह तुम्हारे साथ हैं।

२० जुलाई १९३८

"भौतिक में अभीप्सा" (एक तरह का पलास) का यह फूल हमारे आशीर्वाद और मेरे समस्त प्रेम के साथ।

डॉक्टर के शब्दों से विचलित न होओ। रोग कभी गम्भीर नहीं होते जब तक कि हम उन्हें ऐसा मान न लें। इसके अतिरिक्त, मैं बहुत जल्दी यह सुनने की आशा कर रही हूँ कि तुम अच्छी हो गयी हो।

२४ जुलाई १९३८

यह लो छोटा-सा "नवजन्म" (रजनीगन्धा पुष्प)।

तुम वस्तुतः बीमारी का इससे अच्छा क्या उपयोग कर सकती हो कि इसे एक अवसर मानो और अपने अन्दर गहराई में जाओ और जागो, एक नयी, अधिक आलोकमयी और अधिक सच्ची चेतना में जन्म लो।

हमारी सहायता और हमारे आशीर्वाद हमेशा सस्नेह तुम्हारे साथ हैं।

२८ जुलाई १९३८

'श्रीमातृवाणी', खण्ड १७, पृ. २७९-८१

सच्चे बनो

मधुर माँ, यहाँ आश्रम में रहते हुए हमें जितना लाभ उठा सकना चाहिये हम उतना लाभ क्यों नहीं उठाते?

आह! यह तो बहुत सीधी-सी बात है; इसलिए क्योंकि यह बहुत आसान है!... जब गुरु को ढूँढ़ने के लिए तुम्हें सारी दुनिया का चक्कर लगाना पड़े, जब तुम्हें शिक्षा के पहले शब्दों को पाने के लिए सब कुछ त्यागना पड़े, तब, वह शिक्षा, वह आध्यात्मिक सहायता उस चीज़ की तरह बहुत अनमोल बन जाती है जो बड़ी कठिनाई से मिलती है और तुम उसके अधिकारी बनने के लिए बहुत प्रयास करते हो।

तुममें से अधिकतर यहाँ तब आये जब तुम बहुत छोटे थे, ऐसी उम्र थी जब आध्यात्मिक जीवन का या आध्यात्मिक शिक्षा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता—वह बिलकुल असामयिक होता। तुम यहाँ के वातावरण में रहे पर उसे जाने बिना; तुम मुझे देखने के, मेरी बातें सुनने के अभ्यस्त हो; मैं तुम्हारे साथ ऐसे बात करती हूँ जैसे सभी बच्चों के साथ की जाती है, मैं तुम्हारे साथ खेली तक हूँ, जैसे कोई बच्चों के साथ खेलता है; तुम्हें बस यहाँ आना और बैठना होता है और तुम मुझे बोलते हुए सुनते हो, तुम्हें सिर्फ़ प्रश्न करना होता है और मैं उत्तर दे देती हूँ। मैंने कभी किसी को कोई बात बताने से इन्कार नहीं किया। यह इतना सरल है। बस इतना काफ़ी है... जीना—सोना, खाना, व्यायाम करना और विद्यालय में अध्ययन करना। तुम यहाँ वैसे ही रहते हो जैसे कहीं बाहर रहते। और इसीलिए, तुम इसके आदी हो गये हो।

यदि मैंने कड़े नियम बनाये होते, यदि मैंने कहा होता: "मैं तुम्हें तब तक कुछ नहीं बताऊँगी जब तक तुम उसे जानने के लिए सचमुच प्रयास नहीं करते," तो शायद तुम कुछ प्रयास करते, पर नहीं, यह मेरे विचारों से मेल नहीं खाता। कठोर शिक्षा की अपेक्षा मैं वातावरण की शक्ति और उदाहरण पर ज़्यादा विश्वास करती हूँ। मैं विधिवत्, अनुशासित प्रयत्न की अपेक्षा मूक सञ्चार द्वारा सत्ता में कुछ जगा देने पर ज़्यादा भरोसा करती हूँ।

शायद, अन्ततः, कोई चीज़ तैयार हो रही है और एक दिन वह सतह

स्वास्थ्य

उसमें तल्लीन न रहना, बल्कि उसे भगवान्
के हाथों सौंप देना

(श्रीमाँ के द्वारा दिया गया पुष्प का आध्यात्मिक अर्थ तथा व्याख्या)

वानस्पतिक नाम : Thespesia populnea

Date of Publication: 1st May 2020
Rs. 30 (Monthly)

Registered: PY/47/2018-20
RNI No.18135/70

A school by **The Vatika Group** vatika

Nature Friendly

"My child is in Grade 2. My son's journey with this school started 3 years back.

What really drew me to the school at the first instance is the calmness that prevails in the atmosphere!

Being a doctor myself, it was very important for me that the school environment should be healthy – class rooms in MatriKiran are the most nature friendly, spacious, well ventilated, they open out to green spaces... perfect to stay in communion with nature."

Dr. Nidhi Gogia
Mother of Soham Sharma, Grade 2

ADMISSIONS OPEN
Academic Year 2019-20

ICSE Curriculum

Junior School SOHNA ROAD
Pre Nursery to Grade 5

Senior School VATIKA INDIA NEXT
Grade 6 to Grade 9

MatriKiran
www.matrikiran.in

Junior School
W Block, Sec 49, Sohna Rd, Gugaon
+91 124 4938200, +91 9650690222

Senior School
Sec 83, Vatika India Next, Gugaon
+91 124 4681600, +91 9821786363